

सर्व जिनागम पीडीएफ ग्रुप



स्वाध्याई बंधुओ तक
अवश्य पहुंचाए
निवेदक: सौरभ जैन

जैन एकता मंच



हम
सब
एक
हैं



सर्व जिनागम पीडीएफ ग्रुप

9993602663/7722983010

जैन साहित्य एवं मंदिर

उपकरण

हमारे यहाँ सभी प्रकार का दिगंबर जैन एवं भारत के सभी प्रमुख धार्मिक संस्थानों का सत साहित्य एवं मंदिर में उपयोग हेतु उपकरण और प्रभावना में बाटने योग्य सामग्री सीमित मूल्य पर उपलब्ध है !

(पांडुशिला, सिंघासन, छत्र, चंवर प्रातिहार्य, जापमाला, मंगल कलश, पूजा बर्तन चंदोवा, तोरण, झारी)



शुद्ध चांदी के
उपकरण ऑर्डर
पर निर्मित किये
जाते हैं।

नोट :- हमारे यहाँ घरों में उपयोग हेतु, साधुओं के उपयोग हेतु, अनुष्ठानों में उपयोग हेतु शुद्ध देशी घी भी ऑर्डर पर उपलब्ध कराया जाता है !

सौरभ जैन (इंदौर)
9993602663
7722983010

सभी दिगंबर जैन ग्रंथों की पीडीएफ प्रतिदिन निशुल्क प्राप्त करने के लिए संपर्क करें



जय जिनेन्द्र



गाय का शुद्ध देशी घी

शुद्धता पूर्वक बनाया गया देशी घी
चातुर्मास में साधु ब्रती एवं धार्मिक
अनुष्ठानों को ध्यान में रख कर
बनाया गया शुद्ध देशी घी

घी ऐसा की दिल
जीत जाये



संपर्क:-CALL &
WHATSAPP:
9993602663
7722983010







: ६ :

भरत चक्रवर्ती की नौ निधियाँ

भरत के पास नौ निधियाँ थीं। उनसे मनोवाञ्छित फल प्राप्त किया जा सकता था। वे इस प्रकार थीं—

१. कालनिधि—शरद, ग्रीष्म और वर्षाऋतु के योग्य द्रव्य पदार्थ की देने वाली निधि कालनिधि कहलाती है।

२. महाकालनिधि—यह निधि नाना प्रकार के भोज्य पदार्थों को प्रदान करती है।

३. पाण्डुनिधि—सम्पूर्ण धान्य (गोधूमादि) इस निधि से प्राप्त होते हैं।

४. माणवक निधि—जो विविध प्रायुधों (असि मूसल आदि) को उपलब्ध कराती है।

५. शालनिधि—इससे नाना वादित्र (तत, वितत, घन, सुशिर आदि) प्राप्त हो जाते हैं।

६. नैसर्ग निधि—अनेक प्रकार के महल, मकान आदि इससे मिलते हैं।

७. पद्मनिधि—इस निधि से स्वर्ग के वस्त्रों के समान अमूल्य वस्त्र प्राप्त होते हैं।

८. पिङ्गलनिधि—यह स्त्री-पुरुषों को उनके योग्य आभरण प्रदान करती है।

९. सर्वरत्ननिधि—वज्र, वैडूर्य, मरकत, माणिक्य, पद्मराग, पुष्पराग आदि रत्नों की प्रदाता सर्वरत्ननिधि कहलाती है।

ये निधियाँ सभी चक्रवर्तियों को प्राप्त होती हैं। भरत के बाद होने वाले ११ (ग्यारह) चक्रवर्तियों को भी मिलीं। वे ११ चक्रवर्ती इस प्रकार थे—सगर, मधवा, सन्तकुमार, शांति, कुंथु, अरह, सुभोम, महापद्म, हरिसेन, जयसेन, ब्रह्मदत्त। भरत को मिला कर १२ चक्रवर्ती वर्तमान काल के माने जाते हैं। इनमें भरत सर्वप्रथम हुए।

भरत और भारत

डॉ० प्रेमसागर जैन
अध्यक्ष : हिन्दी विभाग
वि० जैन कालिज, बड़ौत,
(उ० प्र०)

प्रकाशक
दिगम्बर जैन कालिज प्रबन्ध समिति
बड़ौत (मेरठ)

© लेखक का
सर्वाधिकार सुरक्षित

मुद्रक : प्रभात प्रेस मेरठ

भरत और भारत

‘आसीत्पुरा मुनिश्रेष्ठः भरतो नाम भूपतिः ।
आर्षभो यस्य नाम्नेद भारत खण्डमुच्यते ॥’

—नारद पुराण

अनुक्रमणिका

१. आमुख (नाभिखण्ड : अजनाभवर्ष)	१
२. भरत और भारत	८
३. क्षात्र धर्म	३६
४. युद्धस्य वार्ता रम्या	४४
५. श्री ऋषभदेवस्य शतपुत्रनामानि	४६
६. भरत चक्रवर्ती की नौ निधियाँ	४८

प्रकाशकीय

दो वर्ष पूर्व 'विश्वधर्म' की रूपरेखा पढ़ी। मुनिश्री विद्यानन्द जी की महत्त्वपूर्ण कृति। एक स्थान पर ध्यान जमा। प्रश्न उभरा कि क्या वास्तव में 'भारतवर्ष' नाम के मूलाधार, जैनों के आदि तीर्थङ्कर ऋषभदेव के ज्येष्ठ पुत्र भरत थे ? सौभाग्य की बात है कि विगत वर्ष मुनिश्री का चातुर्मास बड़ौत में हुआ। उसके बाद भी कॉलिज की प्रबन्ध समिति के तत्त्वावधान मे वे ५ माह और रहे। इसी काल में उनका मनन, अध्ययन और शोध-खोज का कार्य सम्पन्न हुआ।

एक दिन चर्चा हुई। हमने चाहा कि उपर्युक्त विषय पर अधिक शोध-खोज होकर एक पृथक् पुस्तक प्रकाशित हो जावे। शायद मुनिश्री के विचार में यह बात पहले से थी। अतः उन्हें प्रस्ताव अनुकूल प्रतीत हुआ। उन्होंने यह कार्य हमारे हो कॉलिज के हिन्दी विभागाध्यक्ष डॉ० प्रेमसागर जैन को सौंप दिया। समय-समय पर अपना निर्देशन देना स्वीकार किया।

भारतीय सस्कृति की दो पुनीत धाराएँ थीं—श्रमण और वैदिक। दोनों एक दूसरे की पूरक थी। बहुत समय तक ऐसी ही रहीं। ऋग्वेद में वातरशना, पिशांगा और वसतेमला मुनियों की जो प्रशंसा की गई, तो वह गीता और श्रीभद्रमागवत तक अबाध रूप से चलती रही। ऐसा डॉ० मङ्गलदेव शास्त्री आदि अनेक विद्वान मानते हैं। आगे जाकर भेद हुआ। दिशाएँ मुड़ गईं। खाई चौड़ी होती गई। किन्तु बात है पहले की। सन्दर्भ उसी से सम्बन्धित है। इस ग्रन्थ से यह सिद्ध हो गया है कि वैदिक धारा के ग्रन्थों में ऋषभदेव के ज्येष्ठ पुत्र भरत को ही इस देश के नाम 'भारतवर्ष' का मूलाधार माना गया है। यह एक नई बात है। इतिहास के अनुसन्धित्सुओं की भायेगी

और राष्ट्रीय चेतना को भी अपने नाम का एक प्रामाणिक आधार प्राप्त होगा, ऐसा हमें विश्वास होता है ।

ऋषभ-पुत्र भरत के पूर्व इस देश का नाम 'अजनाभवर्ष' था । वह भरत के दादा—१४वें कुलकर, मनु नाभिराय के नाम पर रक्खा गया था । यह बात बहुत कम लोग जानते होंगे । लेखक ने 'आमुख' में इस तथ्य को नाना प्रमाणों के साथ प्रस्तुत किया है, विश्वास-पूर्वक लिखा है । वैसे तो शोध एक सतत प्रवाह है और नये-नये तथ्यों के उभरने की सम्भावना कभी विरमित नहीं होती, होनी भी नहीं चाहिए, किन्तु अभी तो लेखक ने जो कुछ रक्खा है, वह नितांत नवीन है, ऐसा हम समझे हैं ।

हमारे इन विचारों से अनुप्राणित हो, कॉलिज की प्रबन्ध समिति ने इसके प्रकाशन का विचार किया । वह यदि पाठकों को रुचा तो हमें प्रसन्नता ही होगी । हम चाहते हैं कि राष्ट्र और धर्म के समन्वय सूत्र को पुष्ट बनाने वाले ऐसे अनेक ग्रन्थों का प्रकाशन कॉलिज से हो । हमारी योजना है । मुनिश्री के आशीर्वाद को हम अपना भाग्य मानते हैं । उससे हमें अपने गन्तव्य पर पहुँचने की सदैव प्रेरणा मिलेगी । लेखक के लिए क्या लिखे, उन्हें जितना धन्यवाद दिया जाय थोड़ा होगा । उनके अनवरत परिश्रम को हम सराहे बिना नहीं रह सकते ।

दीपचन्द्र जैन

मंत्री

वि० जैन कॉलिज प्रबन्ध

समिति, बड़ौत

जियासास जैन

सभापति

वि० जैन कॉलिज प्रबन्ध

समिति, बड़ौत

बीरनिर्वाण सं० २४६६

आद्य मिताक्षर

भारतीय साहित्य विपुल और अगाध है। उसमें अनेक अनूठे, रत्न हैं, जिनमें कुछ का हमें ज्ञान हो चुका है और बहुत कुछ शेष हैं। सतत अनुसन्धान और खोज की आवश्यकता है। उसी से प्रेरित होकर इस पुस्तक के रूप में मेरा यह छोटा-सा प्रयास है। संस्कृत-प्राकृत-अपभ्रंश के समवेत अध्ययन से मैं समझ सका हूँ कि प्रजापति ऋषभदेव के ज्येष्ठ पुत्र भरत, भारतवर्ष नाम के मूलाधार थे। वे प्रथम चक्रवर्ती थे और उनके पीछे उनके पितामह—१४वें कुलकर नाभिराय की तथा पिता-आदि तीर्थङ्कर ऋषभदेव की प्रतापी परम्परा थी, जिसका उन्होंने सही अर्थों में निर्वाह किया। यह परम्परा आगे भी सहस्रो वर्षों तक अक्षुण्ण रूप से चलती रही। यह सच है कि भारत एक महान देश था। उसने वीरों को जन्म दिया तो धर्म, संस्कृति और ज्ञान को भी समुन्नति के शिखर पर पहुँचा दिया। वह प्राची दिशा में जन्मा सहस्ररश्मि था।

किन्तु, यह भी सच है कि यहाँ देश-द्रोहियों, वासना-लोलुपों और नरपिशाचों का भी अभाव नहीं रहा है। उनके विश्वासघात, छल-कपट और दांव-पेचों से यह देश अधोगति को भी प्राप्त हुआ, उसे एक लम्बा समय दासता की बेड़ियों में व्यतीत करना पड़ा। फिर भी, उसकी संस्कृति का मूल इतना सुदृढ़ था कि वह गिर-गिर कर भी ऊपर उठा। सतत गिरा नहीं रह सका। यही उसकी प्राणवत्ता है। और, आज हम २२ वर्ष से स्वतन्त्र हैं। इस बीच, उसने लोक-तन्त्र के यशस्वी विधान के साथ जीवन के प्रत्येक भाग में उन्नति की है। वह उठ रहा है और पारखी मानने लगे हैं कि भारत अति शीघ्र विश्व के समुन्नत देशों में गिना जायेगा।

हमारा पौरुष जग-प्रसिद्ध था, उससे हमने न केवल भौतिक, अपितु आध्यात्मिक लक्ष्यों को भी सहेज ही पालिया था। आज हम पुनः चेते हैं तो अपना भूला पौरुष फिर प्राप्त कर लिया है। वह हममें सर्वत्र रहा, किन्तु एक मूर्च्छना के आवरण ने ढक-भर लिया था। अब उसका अनावृत रूप एक बार पुनः इस देश को राष्ट्र-मुकुट बना देगा, ऐसा हमें विश्वास है। हममें न धैर्य की कमी है, न बुद्धि की, न शक्ति और पराक्रम की। समुन्नति को मृदु मुसकान के साथ हमारा स्वागत करना ही होगा।

‘उत्साहः पौरुषं धैर्यं बुद्धिः शक्ति-पराक्रमः ।

जडते यत्र वर्तन्ते तत्र देव सहायकः ॥’

आज की नई पीढ़ी में ये सभी गुण हैं। भारत का भाग्य समु-ज्ज्वल है। नई आस्थाएँ हैं, तो अपने राष्ट्र का परम्परानुगत खून भी है। शंका को स्थान नहीं, यह तो प्राचीन देश की एक नई करवट है, जिसका होना अनिवार्य है और शुभ भी।

मैं चाहूँगा कि इस पुस्तक के सन्दर्भ में, यदि किसी अनुसन्धित्सु को कहीं कुछ और भी प्राप्त हो, तो मुझे अवगत कराने की अनुकम्पा अवश्य करें, जिससे मैं अगले संस्करण में उसे भी सहेज कर चल सकूँ।

वृषभ जयन्ती }
चैत्र वदी ६ }

डा० प्रेमसागर जैन



मोहन-जो-दरो के उत्खनन में

प्राप्त एक मानव-मूर्ति २०००-३००० ई० पूर्व

अनुमानतः यह राजवंश का प्रतिनिधि चित्र है। प्रशस्त वस्त्र एवं वेश विन्यास तत्कालीन (मोहन-जो-दरो कालीन) राजपरिच्छद का मानाक उपस्थित करते हैं। यदि इसे नाभिराज (कुलकर) का चित्र मान लिया जाये तो यह ऋषभदेव को राजमुकुट पहनाने के पश्चात् का चित्र है। इस सन्दर्भ में जिनसेनाचार्य के महापुराण का कथन विचारणीय है।

नाभिराजः स्वहस्तेन मौलिमारोपयत् प्रभोः ।

महामुकुटबद्धानाभधिराड् भगवानिति ॥

आचार्य जिनसेन महापुराण, १६।२३२

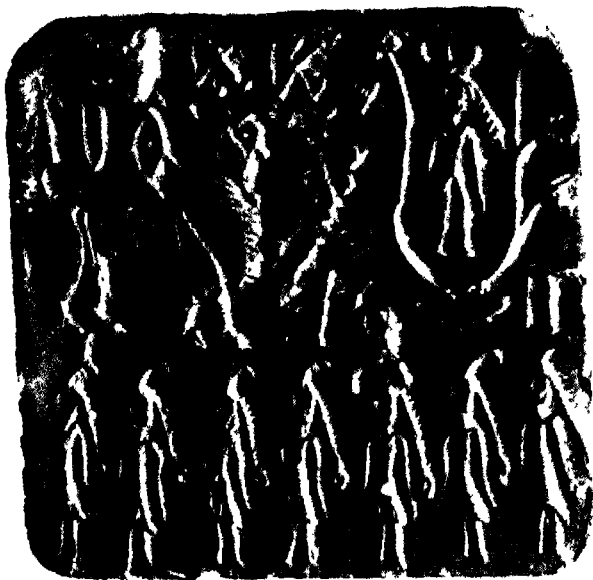
‘बहुरो रिसभ बड़े जब भये ।

नाभि राज दे वन को गये ॥

रिसभ-राज परजा सुख पायो ।

जस ताको सब जग में छायो ॥’

सूरदास, सूरसागर, पृ० १५०



SINDH FIVE THOUSAND YEARS AGO

‘मोहनजोदारो के उत्खनन से प्राप्त भगवान् वृषभदेव विषयक एक महत्वपूर्ण मुद्रा। वृषभनाथ द्विगम्बर (नग्न) एवं ध्यानमग्न में योगमग्न है। शिर पर त्रिशूल रत्नत्रय का प्रतीक चिह्न प्रकीर्त है। मृदुवासी का प्रतीक कोमलमृता का एक पता मुख के पास है। फलशक्त कल्पवृक्ष-परिवेष्टित तीर्थंकर वृषभदेव भक्त की भक्ति के अनुसार फल पढ़ाता का प्रतीक है। भक्ति से करबद्ध पार्थना नमस्कार निवेदन करते हुए चक्रवर्ती भरत महाराज और उनके पीछे भगवान् का चरण-चिह्न बैल खड़ा है। नीचे की पंक्ति में भरत सम्राट् के सप्तांग प्रतीक (१ राजा, २ ग्रामाधिपति, ३ जनपद, ४ द्वाग ५ भरपूर, ६ षडंगवाण ७ मित्र) श्री लोबद्ध रखे हैं।’

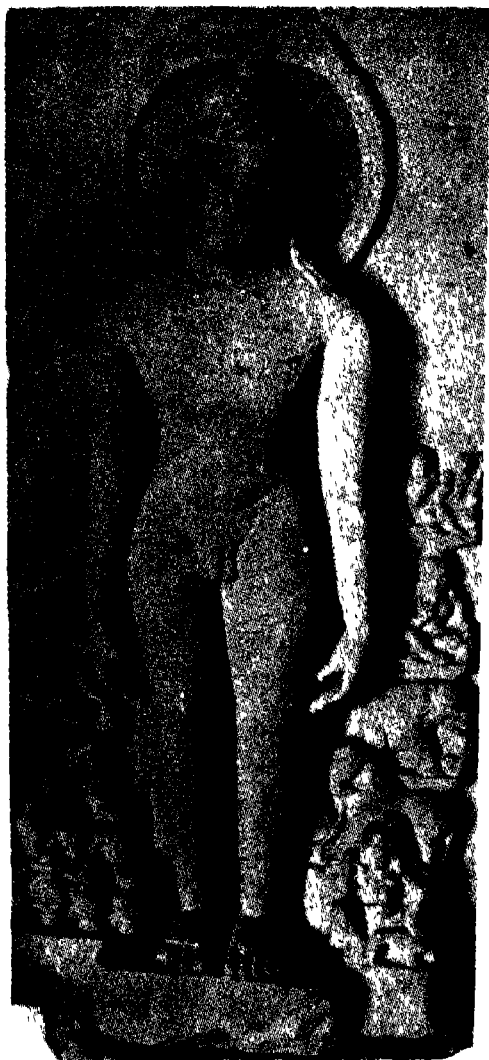
इसमें प्रकित कल्पवृक्ष, मृदुलता और सप्तांग को, सबसे पहले पूज्य १०८ मुनि श्री विद्यानन्द जी ने पहचाना है। उनकी पहचान का सूत्र आचार्य जिनसेन के ‘महापुराण’ (१८/१०), आचार्य माघनन्दि के ‘शास्त्रममुच्चयसार’ (सूत्र १६, पृ० ७२) और अर्हदास-विरचित ‘पुरुदेवचम्पू’ (श्लोक-पहला) में प्राप्त होता है।



**विश्व का द्वाँ आश्चर्य, ५७ फीट ऊँची
बाहुबली की मूर्ति श्रवणवेलगोल, मैसूर राज्य में उत्कीर्णित**

सम्राट् ऋषभदेव के दूसरे पुत्र बाहुबली थे। वे भी भरत की भाँति प्रतापी थे। उनका जन्म ऋषभदेव की द्वितीय पत्नी सुनन्दा से हुआ था। उनका शरीर कामदेव के समान सुन्दर था। इसी कारण वे गोम्मटेश कहलाते थे। वे दृढ़ तपस्वी और मोक्षगामी महासत्त्व थे। उनकी राजधानी तक्षशिला (पोदनपुर) में थी।

श्रवणवेलगोल (मैसूर) में उनकी ५७ फीट ऊँची मनोज्ञ प्रतिमा दक्षिण के महामात्य चामुण्डराय ने १००० वर्ष पूर्व उत्कीर्णित करवाई थी। केवल एक ही शिला को काट कर इसका निर्माण किया गया था, यही विशेषता है। इसके वीतराग अग्र-सौष्ठव और मनोज्ञता को भारतीय अथवा पाश्चात्य जिस-किसी ने भी देखा, सराहा है। इसके महामस्तकाभिषेक का मंगलानुष्ठान आयोजित कर घर्मानुरागी जन व्याधियों को पराभूत करने में समर्थ होते हैं। यह मूर्ति विश्व का आठवा आश्चर्य मानी जाती है।



ध्यानमग्न कायोत्सर्ग मुद्रा में
 उत्कीर्णित, देवगढ़ के उत्खनन में
 प्राप्त भारत की प्राचीन प्रतिमा। चरणों के निकट
 नव निधि के प्रतीक ९ कलश अंकित हैं।

: १ :

आमुख

(नाभिलिखण्ड : भजनाभिवर्ष)

'ब्रह्मो जगच्छ्रेष्ठः पुरुः पुन्युज्ज्वलः ।

नारभेधो नाभिलिखण्डः कुरुकुलनन्दनः ॥'

—भगवज्जिनसेनाचार्य, आदिपुराण-१०

अत्यन्त प्राचीन युग में इस आर्यभूमि पर महाराजा नाभि राज्य करते थे । वे १४ कुलकरों में अन्तिम कुलकर थे ।^१ अन्तिम होते हुए भी दीर्घायु, समुन्नत शरीर, अप्रतिम रूप-सौन्दर्य, अपार बल-विक्रम और विपुल गुणों के कारण सब-से-अग्रिम थे ।^२ श्रीमद्भागवत् में उन्हें आदिमनु स्वयम्भुव के पुत्र प्रियव्रत और प्रियव्रत के आग्नीध्र तथा आग्नीध्र के नौ पुत्रों में ज्येष्ठ माना है ।^३ महाराजा नाभि अपने विशिष्ट ज्ञान, उदार गुण और परमैश्वर्य के कारण कुलकर अथवा मनु कहलाते थे । सर्वप्रथम उन्होंने ही उत्पन्न बालकों के नाभि-नाल को शस्त्र-क्रिया से पृथक् करने का परिज्ञान दिया ।^४ शायद उनके नाम 'नाभि' का यह ही रहस्य हो । उन्हें हुए कितना युग बीता कहा नहीं जा सकता ।

उनका युग एक संक्रान्तिकाल था । जब सिंहासन पर बैठे, भोगभूमि थी । कल्पवृक्ष फलते थे । अपराध-वृत्ति का अभाव था । सभी में पारस्परिक सद्भाव था । प्रत्येक का मनोवांछित फल कल्पवृक्षों से प्राप्त हो जाता था, तो

१. प्रतिभुति, सन्मति, सेमकर, सेमन्धर, सीमंकर सीमन्धर, विमलवाहन, जम्बुमान, वरास्वान, अभिचन्द्र, चन्द्राभ, मरुदेव, प्रसेनजित और नाभिराय ।

—त्रिलोकसार ७६२-६३.

२. पूर्वांश कुलकर्तृस्वनयो नाभिराजोऽग्रिमोऽप्यभूत् ।

व्यावर्धिताङ्गुरुस्त्वैव रूप सौन्दर्य विभ्रमः ॥ मिहापुराण, ११।६, पृ० २४६.

३. निधव्रतो नाम सुतो यत्नाः स्वयम्भुवः यः ।

सत्याग्नीध्रस्ततो नाभिः ऋषभस्ततस्तुतः द्रुपदः ।

—भागवतपुराण १।१।१५

४. "सर्वे काले होदि तु नाभिर्यं व्यामिणालमर्षदीर्घं । तत्कृतयो वदेत्सं क्वदि मयू से पकुम्भेति ।"

—सिलोपपद्यन्ति ४।६.६

असद्वृत्ति का प्रश्न ही नहीं उठता था । किन्तु, उनके जीवनकाल में ही श्रीम-भूमि समाप्त हो गयी । कल्पवृक्ष निःशेषप्रायः हो गये । कर्मभूमि का प्रारम्भ हुआ । नये प्रश्न थे, नये हल चाहिए थे । नाभिराय ने सूर्य-पूर्वक उनका समाधान दिया । वे स्वयं प्राण-सह बने । उन्हें क्षत्रिय कहा गया । 'क्षत्रियस्त्राणसहः' उन पर चरितार्थ होता था । आगे चल कर 'क्षत्रिय' शब्द नाभि' अर्थ से रूढ़ हो गया । अमर कोषकार ने 'क्षत्रिये नाभिः' लिख कर सन्तोष किया ।^१ आचार्य हेमचन्द्र ने भी 'अभिधान चिन्तामणि' में 'नाभिश्च क्षत्रिये' लिखा है ।^२ उन्होंने अपने पुरुषार्थ से सद्युग को जन्म दिया । प्रजा सुखी बनी और भोगभूमि के समान ही उसे सर्वविध सुविधाएँ प्राप्त हुईं । महाराजा नाभिराय स्वयं कल्पवृक्ष हो गये । भगवज्जिनसेनाचार्य ने महापुराण में लिखा है, "चन्द्र के समान वे अनेक कलाओं की आधारभूमि थे, सूर्य के समान तेजवान थे, इन्द्र के समान वैभवंसम्पन्न थे और कल्पवृक्ष के समान मनो-वाञ्छित फलों के प्रदाता थे ।"^३ उन्होंने युग-प्रवर्तन किया । आज कल की मोटी परतें भी उनके नाम को नामशेष नहीं कर सकी । वे उसके (काल) वक्ष पर तप्तशलाका से स्पष्ट लिखे रहे, राज-कणो मे अभ्रक-पत्र से, दिशाओं मे सूर्य-से और आकाश मे ध्रुव नक्षत्र से दमकते रहे । कोई मिटा न सका । वे जीवित हैं, केवल वैदिको मे नहीं, अपितु मुसलमानों मे भी । अरबी का एक शब्द है 'नबी', जिसका अर्थ होता है—'ईश्वर का दूत', 'पैगम्बर' और 'रसूल' ।^४ वह शब्द संस्कृत के 'नाभि' और प्राकृत के 'णाभि' का ही रूपान्तर-मात्र है । इसका अर्थ है कि उनका नाम बना ही नहीं रहा, अपितु 'ईश्वर के दूत' के रूप मे और भी चमकीला बना ।

उनके नाम पर ही इस आर्यखण्ड को नाभि खण्ड या अजनाभवर्ष कहा गया । नाभि को अजनाभ भी कहते थे । स्कन्दपुराण मे, "हिमाद्रिजलधेरन्त-

और

"नाभिश्च तन्नाभिनिर्कसेन प्रजासमाश्रितान् हेतुरासीत् ।"

—महापुराण, ३।२३७.

१. अमरकोष, ३।५।२०.

२. अभिधान चिन्तामणि, १।३६.

३. शरीर स कलाधारः सैवस्वी भानुमानिव । प्रभु शक्र इवासीत् फलदः कल्पशाखिवत्
महापुराण, २।२।११.

४. 'उर्दू-हिन्दी कोश', रामचन्द्र बर्म सम्पादित, हिन्दीग्रन्थरत्नाकर कार्यालय, बनारस, चतुर्थ संस्करण, अगस्त १९५३, पृष्ठ २२४.

नामिखण्ड मिति स्मृतम्" आया है।^१ इस पंक्ति का विश्लेषण करते हुए डा० अवधविहारी लाल अवस्थी ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ "प्राचीन भारत का भौगोलिक स्वरूप" में लिखा, "सप्त द्वीपों वाली पृथिवी में जम्बूद्वीप अत्यन्त प्रसिद्ध भूखण्ड था। भ्राष्ट्र प्रजापति मनु स्वायम्भुव के पुत्र प्रियव्रत दस राजकुमारों के पिता थे। उनमें तीन तो सग्यासी हो गये थे और सात पुत्रों ने सात महाद्वीपों में भ्राघपत्य प्राप्त किया। ज्येष्ठ भ्रान्नीध्र जम्बूद्वीप के राजा हुए। उनके नौ लड़के जम्बूद्वीप के स्वामी बने। जम्बूद्वीप के नौ वर्षों में-से हिमालय और समुद्र के बीच में स्थित भूखण्ड को भ्रान्नीध्र के पुत्र नामि के नाम पर ही नामिखण्ड कहा गया।"^२ नामि को अजनाभ भी कहते थे। इसी कारण नामिखण्ड को अजनाभवर्ष भी कहा गया। 'मार्कण्डेय पुराण: सांस्कृतिक अध्ययन' के एक पाद-टिप्पण में डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने लिखा है, "स्वायम्भुव मनु के प्रियव्रत, प्रियव्रत के पुत्र नामि, नामि के ऋषभ और ऋषभदेव के सौ पुत्र हुए, जिनमें भरत ज्येष्ठ थे। यही नामि अजनाभ भी कहलाते थे, जो अत्यन्त प्रतापी थे और जिनके नाम पर यह देश अजनाभवर्ष कहलाता था।"^३ श्री मद्भागवत में भी "अजनाभ नामैतद्वर्षभारतमिति यत् आरभ्य व्यपदिशति।" लिखा है।^४ इसका अर्थ है कि अजनाभवर्ष ही आगे चल कर 'भारतवर्ष' इस संज्ञा से अभिहित हुआ। भगवज्जिनसेनाचार्य ने अपने आदिपुराण में, "कालसन्धि के समय, इसी जम्बूद्वीप में विजयार्धपर्वत से दक्षिण की ओर आर्यखण्ड में नामिराज हुए और उनके नाम पर इस खण्ड को नामिखण्ड कहा गया।"^५ ऐसा उल्लेख किया है।

महाराजा नामिराय को उदयाद्रि और महारानी मरुदेवी को प्राचीदिशा अनेक आचार्यों ने कहा, क्योंकि उनसे सूर्य-से भास्वर तीर्थङ्कर ऋषभदेव का जन्म हुआ था। जिनसेनाचार्य ने आदिपुराण में लिखा है, "यो नामिराजः सत्य त्वम् उदयाद्रिमहोदयः। देवी प्राच्यैव यज्ज्योतिः युष्मत् परमुद्बभौ ॥"^६

१. स्कन्दपुराण, १।२।३।७।५५.

२. 'प्राचीन भारत का भौगोलिक स्वरूप', डा० अवधविहारीलाल अवस्थी, कैलाश प्रकाशन, लखनऊ, सन् १९६४, पृष्ठ १२३ परिशिष्ट २.

३. 'मार्कण्डेय पुराण: सांस्कृतिक अध्ययन', डा० वासुदेवशरण अग्रवाल, पादटिप्पण संख्या-१ पृ० १३८.

४. श्रीमद्भागवत, ५।७।३

५. महापुराण, ६२।८.

६. महापुराण, १४।८१.

इसका अर्थ है कि हे नाभिराज ! यह सच है कि आप उद्यमवान हैं और देवी पूर्ण विद्या हैं, महे पुत्र रूपी परमज्योति आप से ही उत्पन्न हुई है। एक दूसरे स्थान पर आचार्य जिनसेन ने ही लिखा है कि इस विषय में नाभिराय सब से अधिक पुण्यवान और मरुदेवी पुण्यवती हैं, क्योंकि ऋषभदेव-जैसे स्वयम्भू पुत्र उनसे ही उत्पन्न होंगे।^१ ऋषभदेव अनुपम थे और उन्हें मरुदेवी-जैसी मां ही जन्म दे सकती थी, प्राची विद्या ही सूर्य को जन पाती है, अन्य नहीं। आचार्य मानसुंग ने अपने 'भक्तमर स्तोत्र' में इस चित्र को काव्यात्मक ढंग से उकेरा है—

“स्त्रीणां भूतानि शतशो जनयन्ति पुत्रान्
नाम्या सुतं त्वदुपमं जननी प्रसूता ।
सर्वा विशो ब्रूयति भानु सहस्ररश्मिं
प्राच्यैव दिक् जनयति स्फुरदंशुबालम् ॥”^२

इस श्लोक में भक्त कवि ने अपने अद्वापुष्प भा मरुदेवी के चरणों में बिखेरे हैं। तीर्थंकर को जन्म देने वाले माता-पिता कम पूज्य नहीं होते। जगत ऐसे दम्पति के चरणों में सदैव अद्वावनत होता ही है, जिनका पुत्र अपने पौरुष और बल-विक्रम से उसे इहलौकिक और पारलौकिक दोनों सुख प्रदान करता है। ऋषभदेव का जन्म दो युगों की सन्धिबेला में हुआ था—भोगभूमि का अंत और कर्मभूमि का प्रारम्भ। महाराजा नाभिराय—जो भोगभूमि या (श्री जयशंकर प्रसाद की दृष्टि में) देवसृष्टि के अवशिष्ट अंश थे—ने बहुत कुछ सुलभाया, किन्तु नया-नया उठता ही जा रहा था। जब उन्होंने इस सबके समाधान में ऋषभदेव को पूर्ण समर्थ देखा तो प्रजाओं को उन्हों के पास भोजना प्रारम्भ कर दिया।^३

१. स पद्म पुण्यवतीलोके सैव पुण्यवती तती। ययोरयोनि जन्मासी ब्रूषभो
भवितामजः ॥
—महापुराण, १.२।६७.

२. भक्तमरस्तोत्र, २२वां श्लोक.

३. तत्प्रहायान्मनोवृत्ति वधाना व्याकुलीकृतम् ।

नाभि राजमुपासेदुः प्रजा जीवित काम्यया ॥

नाभिराजब्रूया स्रष्टृस्ततोऽन्तिकमुपाययुः ।

प्रजाः प्रष्टुमर्हन्ति जीवितोपायोल्लङ्घया ॥

महापुराण, १.१।२३३-२४, पृ० ३५८

कल्पवृक्ष संघात हुए जो उदरपूर्ति की समस्या विकट हो गई। किसी को अन्य उत्पन्न करने का ज्ञान नहीं था। ऋषभदेव ने सर्वप्रथम इक्षुवर्षों के उपयोग की विधि बतलाई। उनसे रस निकालना सिखाया। इक्षुइण्ड स्वयं-प्रसूत थे। उनका उपयोग आसान था। शायद इसी कारण उन्हें इक्षुवाकु कहा गया। महापुराण में लिखा है, "आकानाच्च तदिक्षूणां रससंग्रहणं नृणाम्। इक्षुवाकुरित्यभूद् देवो जगतामभिसम्मतः" ॥ आवश्यकचूर्णि में 'अकु' अक्षरों' कहा गया है। इस प्रकार 'इक्षु' और 'अकु' मिल कर 'इक्षुवागो' प्राकृत में और 'इक्षुवाकु' संस्कृत में बनता है। आवश्यक नियुक्ति में "सकरो वंसट्ठवणे इक्षु भगू तेण हुन्ति इक्षुवागो।" ॥ लिखा है। साथ ही, ऋषभदेव ने बिचि-पूर्वक कृषि-कर्म का उपदेश दिया, जिससे आर्यों के जीवन की मुख्य समस्या का समाधान हुआ। आर्य कृषि-जीवी कहलाने लगे। उससे वे सम्पन्न और समृद्ध बने। कृषि का मुख्य साधन वृषभ था। उसकी प्रतिष्ठा पर सबसे अधिक बल दिया गया, यहाँ तक कि ऋषभदेव ने अपना नाम वृषभदेव और वास्पद माना। आगे चल कर 'वृषभ' शब्द श्रेष्ठ अर्थ का पर्यायवाची हो गया। भले ही 'कल्पसूत्र' में भगवान् के ऋषभदेव नाम का मूलाधार मां मरुदेवी का स्वप्न-दर्शन और भगवान् की जाघो के रोमों के मध्य अंकित वृषभ चिह्न रहा हो, किन्तु मैं तो इसका श्रेय उनके कृषि-दर्शन को ही देना चाहूँगा। कृषि ही एक ऐसा साधन था, जिसने कर्मभूमि को साध लिया। ऋषभदेव ने अपनी सूक्ष्म और दूरन्देशी दृष्टि से उसके महत्त्व को भापा होगा। उस समय कृषि का एकमात्र वाहन था वृषभ, अतः उसको समादरणीय घोषित किया। एतदर्थ उन्होंने अपना नाम वृषभ रक्खा। आज पुरातत्त्वज्ञ वृषभलाञ्छन से ही ऋषभदेव की मूर्तियों को पहचान पाते हैं। सामयिक भारत भी केवल कृषि से सर्वाधिक सम्पन्न राष्ट्र बन सकता है।

१. महापुराण, १६।२६४.

२. आवश्यक चूर्णि, पृ० १५२.

३. आवश्यक नियुक्ति, गा० १८६.

४. "प्रजापतिवः प्रथमं निजीविषु।

शरास्त कुम्यादिषु कर्मसु प्रजाः ॥"

इक्षुवृक्षोत्पत्ति, रत्नोक्त दूसरा

५. "पूर्वस्वप्नसमये वृषभस्यदर्शनात्, पुत्रस्योभ्योर्जङ्घयो, रोमणाम् आवर्तमभ्रणाय-
लोकाद् वृषभस्याकाररक्ताञ्जनाद् नाभिकुलक्रेय 'वृषभः' इति नाम दत्तम्।"

कल्पसूत्र, व्या० ७, पृ० १४२ कल्पसूत्रमालिका.

भगवज्जिनसेनाचार्य ने 'पुरु पुरुषोद्धयैः' कह कर भगवान् ऋषभदेव का स्मरण किया है। इसका अर्थ है कि बहुत अधिक गुण होने के कारण उन्हें पुरु कहा जाता था। वस्तुतः पालन और पूरण-उभयगुणात्मक होने से ऋषभदेव का पुरु नाम सार्थक था। वह क्षात्रधर्म के प्रथम प्रवर्तयिता थे।^१ प्रजापति का रक्षण क्षात्रधर्म है। अनिष्ट से रक्षा तथा जीवनीय उपायों से प्रतिपालन ये दोनों गुण प्रजापति ऋषभदेव में विद्यमान थे।^२ इसी कारण उनकी 'पुरुदेव' संज्ञा सार्थक थी। उन्होंने अग्नि, मयी, कृषि, विद्या, वाणिज्य, शिल्प इन षड्विध जीवनीयों का उपदेश देकर प्रजा को समृद्धि का मार्ग दिखाया।^३ अपनी ब्राह्मी और सुन्दरी कन्याओं को घर और भ्रम विद्या का ज्ञान कराया।^४ आज भी विश्व में ब्राह्मी लिपि प्राचीनतम मानी जाती है। भारत और एशिया महाद्वीप की प्रायः सभी लिपियों में जो समानता दिखाई देती है, उसका मूल कारण यही है कि वे सब ब्राह्मी लिपि से निकली हैं।^५

ऋषभदेव के शतपुत्रों में भरत ज्येष्ठ थे। विनीत, उदार, क्षत्रियगुणोपेत। श्रीमद्भागवत के अनुसार वे परम भागवत (भगवद्भक्त) भी थे। प्रजापति ऋषभदेव ने उन्हें पृथ्वी के पालन-पोषण का भार सौंपा। पिता के अनुशासन में सुद्ध रहते हुए ही उन्होंने अद्वितीय सुन्दरी कन्या पाञ्चवती से विवाह किया।^६ भरत प्रथम चक्रवर्ती थे। उन्होंने षट्खण्ड पृथ्वी को जीता और

१. "आद्येन वेधसा मृष्टः सगोऽयं क्षत्रपूर्वकः ।" — महापुराण, ४०।६

"क्षेत्रो धर्मो ह्यादिदेवात् प्रदत्तः पञ्चादित्ये शेषभूताश्च धर्मो ।"

— महाभारत, शान्तिपर्व, १२।६४।२०.

२. "ऋषभ पार्थिवश्रेष्ठ सर्वक्षत्रस्य पूर्वजम् ।" ब्रह्माण्डपुराण, २।१४,

३. "कृष्यादि कर्मषट्कं च स्रष्टा प्रागेव सृष्टवान् ।

कमभूमिरिय तस्मात्तदानीत्तद्व्यवस्थया ॥" आदिपुराण

और

"अतिमयी कृषिविद्या वाणिज्यं शिल्पमेव च ।

कर्मयोगीमानि षोडाश्व्युः प्रजाजीवन हेतवः ॥" आदिपुराण, १६।१७६

४. "लेखं लिखीविद्याय जिषेयं बर्मीष्ट दाहिणकरेण ।

गणितं संख्यायं सुन्दरीय कामेय उवष्टट् ॥"

अभिधान राजेन्द्रकोश, भाग २, 'उसभ' प्रकरण, पृष्ठ ११२६.

५. देखिये 'कन्नड साहित्य का इतिहास', सिद्ध गोपाल काव्यतीर्थ, पृष्ठ ६.

६. "भरतस्तु महाभागवतो यदा भगवतावनितल परिपालनाय ।

सम्बन्धितस्तदनुशासनपरः पाञ्चवतीं विश्वरूपदुहितरमुपयेमे ।"

भागवत, ५।७।१.

जैनशास्त्रानुसार भरत की पटरानी का नाम सुभद्रा था।

समुद्रपर्यन्तायाः पृथिव्याः एकराट् सन्नट् बने । प्रजा की चिन्ता उनकी अपनी चिन्ता बनी । उन्होंने अपने पिता और पितामह के समान ही वात्सल्यभाव से सब कुछ किया । वे महान थे—वीर्यवान, धर्मज्ञ, सत्यवक्ता, दृढ़प्रती, शस्त्र और शास्त्रों के ज्ञाता, निग्रह और अनुग्रह में समर्थ तथा सम्पूर्ण प्राणियों के हितैषी । वे वैभव-सम्पन्न होते हुए भी वैरागी थे । उनका मन ससार से विरक्त था । अन्त में दैगम्बरी दीक्षा^१ लेते ही उन्हें केवलज्ञान हो गया । उन्होंने एक साथ राग और विराग, भोग और योग, ससार और मोक्ष का जैसा आदर्श उपस्थित किया, फिर इस धरा पर कोई न कर सका । वे अद्वितीय थे । उन्हीं के नाम से यह देश अजनाभवर्ष के स्थान पर भारतवर्ष हुआ ।

चक्रवर्ती भरत के पुत्र शतशृंग के आठ पुत्र और नवी कुमारिका नाम की पुत्री थी । ब्राह्मपुराण के अनुसार इन्हीं के नामों पर भारत के नौ भेद हुए, जिन्हे नवद्वीप भी कहा जाता है । नवा द्वीप ही कुमारीद्वीप या कुमारिकाखण्ड था, जिसे भारत भी कहते थे, ऐसा 'प्राचीन भारत का भौगोलिक स्वरूप' में लिखा है ।^२ इससे प्रतीत होता है कि 'भारतवर्ष' एक बृहत्तर भारत या और कुमारीद्वीप या भारत उसका एक खण्ड-मात्र था । इस खण्ड में कितने देश शामिल थे, विद्वान ऊहापोह करते रहे हैं । यहाँ तो इतना ही अभीष्ट है कि अजनाभवर्ष से भारतवर्ष और भारतवर्ष से भारत, यह इस देश के नाम की परम्परा रही है और वह महाराजा नाभिराय के प्रतापी वंशधरो के नामों पर आवृत्त थी ।

१. "षट्खण्डाधिपतिरबक्त्रो परित्यज्य वसुन्धराम ।
तृणवत् सर्वभोगाश्च दीक्षा दैगम्बरी स्थितः ॥"

आचार्य कुलभद्र, सारसमुच्च-१३६.

२. 'भारत का भौगोलिक स्वरूप', डॉ० अबधविहारीलाल अवस्थी, कैलाश प्रकाशन, लखनऊ, १९६४, परिशिष्ट २, पृष्ठ १२३-२४.

भरत और भारत

सन् १९४७ में जब यह देश स्वतन्त्र हुआ, इसके दो प्रसिद्ध नाम आम जनता में प्रचलित थे—इण्डिया और हिन्दुस्तान। ईसा से ३७६ वर्ष पूर्व यूनानियों ने भारत पर आक्रमण किया था। वे अपने लहजे के कारण पंजाब के सिन्धु नदी को 'इण्डस्' कहते थे। इसी आधार पर इण्डिया नाम प्रचलित हुआ। अग्रेजों ने भी इसे ही अपनाया। अग्रेजों के शासन-काल में यह अधिकारिक चला। इसके पूर्व 'हिन्दुस्तान' नाम सर्व प्रचलित था और अब भी है। अरब के व्यापारियों को अपने मार्ग में अवस्थित सिन्धु-जैसे बड़े नद को पार करना पड़ता था। 'स' का उच्चारण न कर सकने के कारण वे उसे 'हिन्दु' कहते थे और इस देश को हिन्दुस्तान। बाद के यवन आक्रमणकारी भी इसी नाम को प्रयोग में लाने लगे। उनके प्रशासन में इसी नाम ने आदर पाया, यहाँ तक कि वैदिक-पौराणिक धर्मानुयायी इसी आधार पर अपने को 'हिन्दू' कहने लगे। 'हिन्दू' और 'हिन्दुस्तान' यहाँ की धूल में मिद कर रह गये। किन्तु, १८ सितम्बर १९४६ की विधानपरिषद् की बैठक ने उपर्युक्त दो नामों में से एक भी स्वीकार नहीं किया। वे विदेशियों के द्वारा दिए गए नाम थे। उनके साथ इस देश की गुलामी का इतिहास नत्थी था। अतः स्वतन्त्र देश ने अपना पुरातन नाम 'भारत' अपनाया।

'भारतवर्ष' नाम किन्हीं भरत के नाम पर पड़ा था, इतना तो सहज सिद्ध ही है। किन्तु वे कौन से भरत थे? एक कठिन प्रश्न है। इस पर अभी तक विद्वान अनुसन्धित्सु जूझते रहे हैं। तीन प्रसिद्ध भरत हुए। एक थे—ऋषभदेव के पुत्र भरत, दूसरे थे द्रौप्यन्ति भरत और तीसरे थे राम-भ्राता भरत। राम के भाई भरत कभी राजसिंहासन पर नहीं बैठे। अतः उनके आधार पर इस देश के नामकरण का प्रश्न नहीं उठता। कतिपय विद्वानों ने द्रौप्यन्ति भरत के नाम को मूलआधार स्वीकार किया है। यह स्वाभाविक था। कालिदास के 'शाकुन्तलम्' की विश्व-व्यापी ख्याति ने द्रौप्यन्ति भरत को

जब-मानस में प्रतिष्ठित कर दिया। उसी को लोग इस देश के 'भारत' नाम का मूलवर्ण मान बैठे। यहाँ तक कि साहित्येतिहास के प्रामाणिक विद्वान् डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने भी अपने ग्रन्थ 'भारत की मौलिक एकता' में ऐसा ही लिख डाला।^१ वे भी क्या करते जब उनके बहुत पूर्व 'सामय ऋग्वेद-सहिता के माध्य मे यही मूल कर बैठे थे। उन्होंने भरत की व्याख्या 'दोष्यन्ति भरत' लिख कर की थी।^२ किन्तु प्राचीन साहित्य इस बात की साक्षी नहीं दे पाता। उसके अनुसार तो, ऋषभदेव के ज्येष्ठ पुत्र भरत 'भारत' नाम के आधार थे।

अग्निपुराण प्राचीन ग्रन्थ है। इसे भारतीय विद्याभो का विश्वकोश कहा जाता है। इसके ३८३ अध्यायो मे नाना प्रकार के विषयों का सन्निवेश है। धर्म, ज्योतिष, राजनीति, आयुर्वेद, मलकार, छन्द, व्याकरण, योग, वेदान्त आदि कोई विषय बचा नहीं है। इसके सम्बन्ध मे 'आग्नेये हि पुराणेऽस्मिन् सर्वा विद्याः प्रदर्शिताः' कथन पूर्ण सत्य है। इस ग्रन्थ मे एक स्थान पर 'भरत और भारत' से सम्बन्धित कुछ पक्तियाँ हैं—

जराऽमृत्युभयं नास्ति धर्माधर्मो युगादिकम्
माधमं मध्यमं तुल्या हिमादेशात् नाभितः।
ऋषभो मरुदेव्यां च ऋषभाद् भरतोऽभवत्
ऋषभोऽद्यात् श्री पुत्रे शाक्यग्रामे हरि गतः।
भरताद् भारतं वर्षं भरतात् तुमतिस्त्वभूत् ॥

अग्निपुराण १०।१०-११

उस हिमवत् प्रदेश (भारतवर्ष को पहले हिमवत प्रदेश कहते थे) मे जरा (बुढ़ापा) और मृत्यु का भय नहीं था, धर्म और अधर्म भी नहीं थे। उनमें माध्यम, सम भाव था। वहाँ माभिराजा से मरुदेवी में ऋषभ का जन्म हुआ। ऋषभ से भरत हुए। ऋषभ ने राज्यश्री भरत को प्रदान कर सन्यास

१. भारत की मौलिक एकता, पृ० २२-२४.

२. देखिये, ऋग्वेद ६।१६।४ का सायणाचार्य कृत भाष्य,

“हे अग्नेय ! त्वां भरतो दोष्यन्तिरेतसंभको राजा वाजिभिर्वाजो बलिर्लक्ष्ममग्ने सवर्धनिः ऋत्विगुभिः सह द्वित्वा—इष्टप्रापदनिष्ठपरिहारद्विविधरूपेण शुभं सुहृदुदिरय ईडे स्तुतवान्।”
—यूना संस्करण, ३ भाग

ले लिया। भरत से इस देश का नाम भारतवर्ष हुआ। भरत के पुत्र का नाम सुमति था।

भरत-सम्बन्धी उल्लेख मार्कण्डेय पुराण में भी उपलब्ध होता है। मार्कण्डेय ऋषि इसके रचयिता थे। शंकराचार्य ने अपने 'वेदान्तसूत्रभाष्य' में इसके दो श्लोकों का उद्धरण दिया है, इससे स्पष्ट है कि यह ग्रन्थ ८वीं सदी से पूर्व का है। पश्चिमी विद्वान भी इसे बहुत प्राचीन मानते हैं। पाण्डितर महोदय ने अंग्रेजी में इसका अनुवाद किया था। इसके प्रारम्भिक अध्याय जर्मन भाषा में भी अनूदित मिलते हैं। यह पुराण अत्यधिक लोकप्रिय हुआ। इसका एक अंश 'दुर्गासप्तशती' के नाम से प्रसिद्ध है। इसमें १३८ अध्याय और ६००० श्लोक हैं। इसमें लिखा है—

“आग्नीध्रं धूमनोर्नाभिस्तु ऋषभोऽभूत् द्विजः।

ऋषभाद् भरतो जज्ञे वीरः पुत्रशताद् वरः॥

तोऽभिषिष्यार्षभः पुत्रं महाप्राजाज्यमास्थितः।

तपस्तेषु महाभागः पुलहाश्रम-संश्रयः॥

हिमाह्वं दक्षिणं वर्षं भरताय पिता ददौ।

तस्मात्सु भारतं वर्षं तस्य नाम्ना महात्मनः॥”

मार्कण्डेयपुराण ५०।३६-४२

आग्नीध्र के पुत्र नाभि से ऋषभ उत्पन्न हुए, उनसे भरत का जन्म हुआ, जो अपने सौ भाइयों में अग्रज था। ऋषभ ने ज्येष्ठ पुत्र भरत का राज्याभिषेक कर महाप्रव्रज्या ग्रहण की और पुलह आश्रम में उस महाभाग्यशाली ने तप किया। ऋषभ ने भरत को हिमवत् नामक दक्षिण प्रदेश शासन के लिए दिया था, अतः उस महात्मा भरत के नाम से इस प्रदेश का नाम भारतवर्ष हुआ।

ब्रह्माण्डपुराण 'भूगोल' विषय की दृष्टि से एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसमें जम्बूद्वीप आदि द्वीपों, नदियों, पर्वतों और नक्षत्रों आदि का रोचक वर्णन है। वायु ने व्यास जी को इस पुराण का उपदेश दिया था, इसलिए इसे 'वायवीय संह्यमाण्ड पुराण' भी कहते हैं। इसकी सन् ५वीं शती में इस पुराण को ब्राह्मण लोग जावा द्वीप ले गये थे, जहाँ उसका जावा की प्राचीन भाषा में अनुवाद

प्राप्त होता है। इससे उसकी प्राचीनता सिद्ध ही है। इस ग्रन्थ के तीसरे पाद में भारतवर्ष के प्रसिद्ध क्षत्रियवर्णों का वर्णन आया है। एक स्थान पर भरत और भारत के सम्बन्ध में कथन है—

नामिस्त्वजनयत् पुत्र मरुदेव्या महाद्युतिः ।
रिषभं पार्थिवश्रेष्ठं सर्वक्षत्रस्य पूर्वजम् ॥
रिषभाद् भरतो जज्ञे वीरः पुत्रशताग्रजः ।
सोऽभिषिच्यर्वभः पुत्र महाप्राज्ञाज्यमास्थितः ॥”
हिमाह्वं दक्षिणं वर्षं भरताय म्यवेदयत् ।
तस्मात् भारतं वर्षं तस्य नाम्ना विदुर्बुधाः ॥

—ब्रह्माण्डपुराण, पूर्व० २।१४

नामि ने मरुदेवी से महाद्युतिवान् ऋषभ नाम के पुत्र को जन्म दिया। ऋषभदेव पार्थिवश्रेष्ठ और सब क्षत्रियों के पूर्वज थे। उनके सौ पुत्रों में वीर भरत अग्रज थे। ऋषभ ने उनका राज्याभिषेक कर महाप्रव्रज्या ग्रहण की। उन्होंने भरत को हिमवत् नाम का दक्षिणी भाग राज्य करने के लिए दिया था और वह प्रदेश आगे चल कर भरत के नाम पर ही भारतवर्ष कहलाया। वायुपुराण के पूर्वार्ध (३०।५०-५३) में भी हू-बहू ऐसा ही उल्लेख मिलता है।

नारदपुराण में भी उन भरत को ऋषभदेव का ही पुत्र बतलाया है, जिनके नाम पर इस देश को भारतवर्ष कहते हैं। नारदपुराण से तात्पर्य 'बृहद्नारदीय' पुराण से है। यद्यपि डॉ० विलसन इसे १६वीं शती का मानते हैं, किन्तु बल्लालसेन (१२वीं शताब्दी) ने अपने दानसागर नाम के ग्रन्थ में इस पुराण के श्लोक उद्धृत किये हैं। अलबेरुनी (११वीं शताब्दी) ने भी अपने “यात्रा-विवरण” में इसका उल्लेख किया है। अतः इन दोनों से प्राचीन तो है ही। यह पुराण विष्णुभक्ति का मुख्य ग्रन्थ है। इसमें एक उद्धरण है—

“प्रासीत् पुरा मुनिश्रेष्ठः भरतो नाम भूपतिः ।
प्राच्यंभो यस्य नाम्नेवं भरतक्षत्रमुच्यते ॥५॥
स राजा प्रातराज्यस्तु वितृपितामहः कनात् ।
पालयामास धर्मेण वितुबदजनयन् प्रजाः ॥६॥”

नारदपुराण, पूर्वखण्ड, अध्याय ४८

पूर्व समय में, मुनियों में खेष्ट भरत नाम के राजा थे, वह ऋषभदेव के पुत्र थे और उन्हीं के नाम से यह देश भारतवर्ष कहा जाता है। उस राजा भरत ने राज्य प्राप्त कर, अपने पिता-पितामह की तरह से ही, धर्म-पूर्वक प्रथा का पालन-पोषण किया था।

‘लिंगपुराण’ शिवतत्त्व की सीमांसा की दृष्टि से एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसमें १६३ अध्याय और ११००० श्लोक हैं। उनमें भगवान् शंकर के ३५ अवतारों का वर्णन है। शैवमत और शिवलीयों का भी विस्तार से विवेचन है इस पुराण में ‘भरत और भारत’ के सम्बन्ध में लिखा है—

नाभिस्त्वजनयत् पुत्रं मरुदेव्यां महामतिः ।
 ऋषभं पाशिवश्रेष्ठं सर्वज्ञस्य महामतिः ॥
 ऋषभाद् भरतो जज्ञे वीरः पुत्रवताम्रजः ।
 सोऽभिषिच्यथा ऋषभो भरतं पुत्रवत्सलः ॥
 ज्ञाने वैराग्यभाषित्य शिष्येन्द्रियमहीरगान् ।
 सर्वात्मनात्मगयास्थाप्य परमात्मानमोदधरम् ॥
 नमोऽजटो निराहारोऽजीवरो ध्वान्तगतो हि सः ।
 निराशस्त्यक्तसंवेहः शैवमाप परं पदम् ॥
 हिमाद्रेश्चैर्भिषं धर्मं भरताय न्यवेदयत् ।
 तस्मात्तु भारतं वर्षं वस्य नाम्ना विबुर्बुधाः ॥

लिंगपुराण, ४७।१६-२३

महामति नाभि को मरुदेवी नाम की धर्मपत्नी से ‘ऋषभ’ नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। वह ऋषभ पाशिवों (नृपतियों) में उत्तम था और सम्पूर्ण क्षत्रियों-द्वारा सुपूजित था। ऋषभ से भरत की उत्पत्ति हुई, जो अपने सौ भ्राताओं में अग्रजन्मा था। पुत्र-वत्सल ऋषभदेव ने भरत को राज्यपद पर अभिषिक्त किया और स्वयं ज्ञान-वैराग्य को धारण कर, इन्द्रियरूप महान् सर्पों को जीत कर, सर्वभाव से ईश्वर परमात्मा को अपनी आत्मा में स्थापित कर तपश्चर्या में लग गये। वह उस समय नग्न थे, जटा-रहित, निराहार, वस्त्र-रहित तथा मलिन थे। उन्होंने सब आशाओं का त्याग कर दिया था। संदेह का परित्याग कर परम शिवपद को प्राप्त कर लिया था। उन्होंने हिमवान्

के दक्षिण भाग को भरत के लिए दिया था। उसी भरत के नाम से विद्वान् इसे भारतवर्ष कहते हैं।

‘स्कन्दपुराण’ एक बृहत्काय ग्रन्थ है। इसकी छः संहिताओं में ८१००० श्लोक हैं। इस पुराण में एक स्थान पर जगन्नाथजी के मन्दिर का भी वर्णन है। इसे ही आधार मान कर कुछ पाश्चात्य विद्वान् इसकी रचना १३वीं शताब्दी के आसपास मानते हैं। किन्तु इस पुराण की एक प्राचीन हस्तलिखित प्रति (सन् १००८ ई०) कलकत्ता में मिली है। उससे भी अधिक प्राचीन प्रति—७वीं शताब्दी की लिखी हुई नैपाल के राजकीय पुस्तकालय में मौजूद है। डा० हरप्रसाद शास्त्री ने वहाँ के सूचीपत्र में ऐसा उल्लेख किया है। इस ग्रन्थ में भारतवर्ष के नामकरण का जिक्र आया है—

नाभेः पुत्रश्च ऋषभः ऋषभाद् भरतोऽभवत् ।

तस्य नाम्ना त्विदं वर्षं भारतं चेति कीर्त्यते ॥

—स्कन्दपुराण, माहेश्वर खण्डस्थ कौमारखण्ड, ३७।५७.

नाभि का पुत्र वृषभ और ऋषभ से भरत हुआ। उसी के नाम से यह देश भारत कहा जाता है।

‘श्रीमद्भागवत्’ भक्ति का अमर स्रोत है। श्री बल्लभाचार्य जी ‘भागवत्’ को महर्षि व्यासदेव की ‘समाधि भाषा’ कहते हैं, इसका अर्थ है कि व्यास जी ने भागवत् के तत्त्वों का वर्णन समाधि दशा में अनुभूत करके किया था। ‘श्रीमद्भागवत्’ का व्यापक प्रभाव पड़ा। रामानुजाचार्य, बल्लभाचार्य, मध्वाचार्य, निम्बार्काचार्य, चैतन्यमहाप्रभु आदि की भक्ति साधनाओं का मूल-आधार भागवत् ही था। ‘तत्र ज्ञानविरागभक्तिसहित नैष्कर्म्यमाविष्कृतम्’ वाली बात भागवत् पर पूर्णरीत्या चरितार्थ होती है। इस महिमामय ग्रन्थ में भरत की पूर्ण वशावली दी है और इस देश के नामकरण का मूलआधार भी बताया है।

‘येषां सन्महायोगी भरतो ज्येष्ठः ज्येष्ठ गुणधरासीत् ।

येनेदं वर्षं भारतमिति व्यावद्विजन्ति ॥”

श्रीमद्भागवत् ५।४।६.

ज्येष्ठ गुणों के आश्रयभूत, महायोगी भरत अपने सौ भाइयों में ज्येष्ठ थे, उन्हीं के नाम पर इस देश को भारतवर्ष कहते हैं।

इसी सन्दर्भ में सार्थ एकनाथी भागवत् का कथन भी उद्धृत करना अनुमत नहीं होगा। उसमें लिखा है—

“ऐसा तो रिषभाचा पुत्र । जयासी नांव भरत ।

ज्याच्या नामाची कीर्ति बिबिध । परम पवित्र जगामाजी ॥

तो भरतु राहिला भूमिकेसी । म्हणोनि भरतवर्ष म्हणती बासी ।

सकल कर्मात्मनी करितां संकलपासी । ज्याच्या नामाची स्मरतासी ॥

—सार्थ एकनाथी भागवत् २।४४।४५.

ऋषभदेव के पुत्र भरत ऐसे थे, जिनकी कीर्ति सारे संसार में आश्चर्यजनक रूप से फैली हुई थी। भरत सर्व पूज्य हैं। कार्य आरम्भ करते समय भरत जी का नाम स्मरण किया जाता है। ऐसे भरत के नाम पर इस देश का नाम भारतवर्ष पड़ा।

सूरदास हिन्दी के प्रसिद्ध कवि थे। उन्होंने सूरसागर की रचना की थी। सभी विद्वानों ने उस पर श्रीमद्भागवत् का प्रभाव स्वीकार किया है। उसके पंचम स्कन्ध में ‘ऋषभभावतार’ का प्रसंग आया है। उसमें ‘भरत और भरत-खण्ड’ का भी उल्लेख है। लिखा है—

बहुरो रिषभ बड़े जब भये । नाभि राज दे बन को गये ॥

रिषभ राज परजा सुख पायो । जस ताको सब जग में छायो ॥

रिषभ देव जब बन को गये । नवसुत नबी खण्ड नृप भये ॥

भरत सो भरत खण्ड को राज । करे सदा ही धर्म अथ न्याय ॥

—सूरसागर, पंचम स्कन्ध, पृ० १५०।५१

शिवपुराण में ‘शकर’ से सम्बन्धित महत्वपूर्ण मान्यताएँ स्थापित की गई हैं। जैसे, वह आर्य थे या अनार्य। दसवीं संहिता में मुनि-पत्नियों के कथानक से इस पर अच्छा प्रकाश डाला गया है। इस पुराण में २४००० श्लोक हैं। शैवदर्शन के तत्त्वों को भली भाँति समझाया गया है। बीच-बीच में शिव और पार्वती से सम्बन्धित नाना कथाओं की अवतारणा है। इस ग्रन्थ में भरत से सम्बन्धित एक स्थल है—

भामेः पुत्रश्च वृषभो वृषभाद् भरतोऽभवत् ।

तस्य नाम्ना सिद्धं वर्षं भारतं चेति कीर्त्यते ॥

—शिवपुराण ३७।५७.

भामि का पुत्र वृषभ और वृषभ के पुत्र भरत हुए । उनके नाम से इस वर्ष (देश) को भारतवर्ष कहते हैं ।

‘महापुराण’ में भी वृषभ और भरत से सम्बद्ध अनेक उद्धरण मौजूद हैं । महापुराण भगवज्जिनसेनाचार्य का ख्यातिप्राप्त ग्रन्थ है । इसकी रचना इसवी सन् ६वीं शती में की गई थी । अब तो यह ग्रन्थ भारतीय ज्ञान पीठ की मूर्तिदेवी ग्रन्थमाला से, हिन्दी अनुवाद के साथ प्रकाशित हो चुका है । इसमें एक स्थान पर लिखा है—

ततोऽभिविध्य साम्राज्ये भरतं सूनमग्रिमम् ।

भगवान् भारतं वर्षं तत्सनाथं व्यधादिवम् ॥

—महापुराण १७।७६

इसके पश्चात् भगवान् वृषभनाथ ने अपने ज्येष्ठ पुत्र का साम्राज्याभिषेक किया तथा भरत से शासित प्रदेश भारतवर्ष हो, ऐसी घोषणा की ।

इसी ग्रन्थ में एक दूसरे स्थान पर भरत और भारत दोनों के नाम की सार्थकता बतलाई गई है । वह इस प्रकार है—

प्रमोदभरत प्रेमनिर्भरा बन्धुता तदा ।

तमाहवद् भरत भावि समस्त भरताधिपम्

तन्नाम्ना भारतं वर्षमिति हासीज्जनास्वदम् ।

हिमाद्रेरासमुद्राच्च क्षेत्रं चक्रभूतामिवम् ॥

—महापुराण, ११।१५८।५६

समस्त भरत क्षेत्र के उस भावि अधिपति को आनन्द की अतिशयता से प्रगाढ़ स्नेह करने वाले बन्धु समूह ने ‘भरत’ ऐसा कह कर सम्बोधन दिया-पुकारा । उस भरत के नाम से हिमालय से समुद्र पर्यन्त यह चक्रवर्तियों का क्षेत्र भारतवर्ष नाम से लोक में प्रतिष्ठित हुआ ।

‘मत्स्यपुराण’ एक विस्तृत ग्रन्थ है। इसके २११ अध्यायों में १५००० श्लोक विवक्षित हैं। इस ग्रन्थ के प्रारम्भ में मनु और मन्वन्तर का विवाद विवेचित है। ५३वें अध्याय में सम्पूर्ण पुराणों की विषयानुक्रमणी दी गई है, इसी कारण यह पुराण विशेष महत्त्व रखता है। इसके अतिरिक्त, ऋषियों के वंश-वर्णन, राजवर्ग का सैद्धान्तिक विवेचन और प्रतिमा-लक्षण आदि के कारण भी इस ग्रन्थ की विशेषता भकी जाती है। यह एक ऐसा पुराण है जो भारत से भारत बना, यह तो मानता है, किन्तु इन भारत को ऋषभदेव का पुत्र नहीं बताता। उसके अनुसार मनुष्यों के आदिम जनक मनु ही प्रजापति के भरण और रक्षण के कारण ‘भरत’ संज्ञा से अभिहित होते थे। उसमें लिखा है—

भरणात् प्रजानाञ्चैव मनुर्भरत उच्यते ।

निरुक्ति वचनैश्चैव वर्ध तव भारतं स्मृतम् ।

—मत्स्यपुराण ११४।५-६.

इस कथन पर विचार करते हुए आचार्य बलदेव उपाध्याय ने अपने ग्रन्थ ‘पुराण विमर्श’ में लिखा है, “प्रतीत होता है कि यह प्राचीन निरुक्ति के ऊपर किसी अवान्तर युग की निरुक्ति का आरोप है। प्राचीन निरुक्ति के अनुसार स्वायम्भुव मनु के पुत्र थे प्रियव्रत, जिनके पुत्र थे नाभि। नाभि के पुत्र थे बुधभ, जिनके एक शत पुत्रों में-से ज्येष्ठ पुत्र भरत ने पिता का राजसिंहासन प्राप्त किया और इन्हीं राजा भरत के नाम पर यह देश भजनाभ से परिवर्तित होकर भारतवर्ष कहलाने लगा। जो लोग दुष्यन्त के पुत्र भरत के नाम पर यह नामकरण मानते हैं, वे परम्परा विरोधी होने से, अप्रमाण है।” इससे सिद्ध है कि मत्स्यपुराण की मौजूदा निरुक्ति वास्तविक निरुक्ति नहीं है। पुरानी और निरुक्ति के अनुसार ऋषभदेव के पुत्र भरत ही प्रजापति का अच्छा भरण-पोषण करने के कारण भरत कहलाते थे, स्वायम्भुव मनु नहीं। पूर्व विवेचित महापुराण के कथन—‘प्रमोदभरतः प्रेमनिर्भरा बन्धुता तदा’ से भी ऐसा ही प्रमाणित होता है।

इस संदर्भ में श्रीमद्भागवत् का एक उद्धरण अत्यधिक महत्वपूर्ण है। उसमें लिखा है, “भगवान् ऋषभ देव ने कहा है कि हे पुत्रो ! आप सब मेरे

१. आचार्य बलदेव उपाध्याय, पुराणविमर्श, सप्तम परिच्छेद, प्रकाशक बौद्धभा विद्याभवन, बाराणसी-१, १९६५.

प्रिय पुत्र हो। मेरे पश्चात् सब भाई अपने ज्येष्ठ भ्राता भरत का हृदय से समादर करना तथा सरसमति से इसकी सेवा करना। यह मेरा ज्येष्ठ पुत्र प्रजाओं के भरण-पोषण रूप सेवा-कार्य करने के कारण 'भरत' नाम से विख्यात होगा।" इस अर्थ को बताने वाला श्लोक है—

‘तस्माद् भवन्तो हृदयेन जाताः

सर्वे महीयांसमनुं सनाभम् ।

अविलष्टबुद्ध्या भरतं भजध्वं

शुभ्रूषणं तद्भरणं प्रजानाम् ॥”

—भागवत्, ५।५।२०

प्रसिद्ध विद्वान् डा० वासुदेवधरण अग्रवाल ने दौष्यन्तिपुत्र भरत से 'भारत' के नामकरण की बात कही थी। अपनी इस भूल को सुधारते हुये उन्होने 'मार्कण्डेयपुराणः सांस्कृतिक अध्ययन' में लिखा, "मैंने अपनी 'भारत की मौलिक एकता' नामक पुस्तक में (पृ० २२—२४) दौष्यन्ति भरत से भारतवर्ष लिख कर भूल की थी, इसकी और मेरा ध्यान कुछ मित्रो ने आकर्षित किया, उसे अब सुधार लेना चाहिये।" अपने इस सशोधित विचार को उन्होने 'जैन साहित्य का इतिहास : पूर्वपीठिका' की भूमिका में और भी पुष्ट कर दिया। वहाँ उन्होने लिखा है, "स्वायम्भुव मनु के प्रियव्रत, प्रियव्रत के पुत्र नाभि, नाभि के ऋषभ और ऋषभदेव के सौ पुत्र हुए, जिनमें भरत ज्येष्ठ थे। यही नाभि अजनाभ भी कहलाते थे जो अत्यन्त प्रतापी थे और जिनके नाम पर यह देश अजनाभवर्ष कहलाता था।

यही अजनाभ खण्ड पीछे भरतखण्ड कहलाया। नाभि के पीत्र भरत उनसे भी अधिक प्रतापवान् चक्रवर्ती थे। यह अत्यन्त मूल्यवान् ऐतिहासिक परम्परा किसी प्रकार पुराणों में सुरक्षित रह गई है।"^१

पुरुदेव चम्पू जैन साहित्य का सुललित काव्य है। जैन पाठकों के बीच उसकी ख्याति रही है। इसमें पुरुदेव (ऋषभदेव) का जीवन चरित्र साहित्यिक सांघे में प्रस्तुत किया गया है। पुरुदेव के सदर्भ में ही भरत और भारत का भी उल्लेख है।

१. देखिये 'मार्कण्डेयपुराणः सांस्कृतिक अध्ययन', पृ० १३८, पादटिप्पण—सं० १।

२. जैन साहित्य का इतिहास : पूर्वपीठिका, भूमिका, पृ० ८।

तन्मात्मा भारतं सर्वविशीहासीकृत्नास्वयम् ।

हिमाद्रेरासमुद्राक्षय क्षेत्रं चक्रमुतासिखम् ॥

—बसुदेवहिण्डी-६।३२

उसके नाम से (भरत के नाम से) यह देश भारतवर्ष प्रसिद्ध हुआ, ऐसा इतिहास है। हिमवान् कुलाचल से लेकर लवण समुद्र तक का यह क्षेत्र चक्र-वर्तियों का क्षेत्र कहलाता है।

‘बसुदेवहिण्डी’ जैन प्राकृत का एक प्रसिद्ध ग्रन्थ है। इसके लेखक धर्मसेन-गणि अच्छे विचारक थे। उन्होंने इस ग्रन्थ में ‘बसुदेवचरित’ लिखा है। वह कुछ श्रुतनिबद्ध था और कुछ आचार्य परम्परा-गत। संघदास वाचक ने ‘बसुदेवहिण्डी’ के प्रथमांश में कहा है कि सुधर्म स्वामी ने जम्बू से प्रथमानुयोग-गत तीर्थंकर-चक्रवर्ति-यादववश प्ररूपणा-गत बसुदेवचरित कहा। इसमें एक स्थान पर भगवान् ऋषभदेव, उनके ज्येष्ठ पुत्र भरत के नाम पर भारतवर्ष प्रसिद्ध हुआ, ऐसा उल्लेख है—

“इहं सुरासुरेभ्य विवर्षद्विय क्षत्रनारबिन्दो उत्तमो नाम पद्मो राया जग-
प्यिवा नहो क्षाती । तस्स पुत्तसयं । कुबे पहाणा भरहो बाहु बलीय । उसम-
सिरी पुत्तसयस्स पुरसयं च दाऊण पम्बइयो । तत्थ भरहो भरह्वात्तपूङ्गमणि,
तस्सेव नामेण इह भारहत्तवासं ति पव्वुच्चति ।”

—बसुदेवहिण्डी, प्र० ख०, १८६ पृ०

अर्थ—यहाँ जगत्पिता ऋषभदेव प्रथम राजा हुए। सुर और असुर दोनों ही के इन्द्र उनके चरण कमलों की वन्दना करते थे। उनके (ऋषभदेव) के सौ पुत्र थे। उनमें दो प्रसिद्ध थे—भरत और बाहुबली। ऋषभदेव शतपुत्र ज्येष्ठ को राज्यश्री सौंप कर प्रव्रजित हो गये। भारतवर्ष का चूड़ामणि (शिरोमुकुट) भरत हुआ। उसी के नाम से इस देश को भारतवर्ष, ऐसा कहते हैं।

‘जम्बू द्वीपपण्णति’ एक प्रसिद्ध जैन ग्रन्थ है। इसमें जम्बू द्वीप का साधिकार विवेचन किया गया है। इसके ‘भरतक्षेत्राधिकार’ में भारतवर्ष के नामकरण के सम्बन्ध में लिखा है, “भरहे अइत्थदेवे नहिहिइए महज्जए जावपत्ति ओव-
महिइए परिवसइ । से एएणट्ठेणं गोयमा । एवं बुच्चइ भरहेवासं ।” इसका अर्थ

है—इस क्षेत्र में एक महद्विक महाबुल्लिबंत, पत्न्योपमस्मिति वाले भरत नाम के देव का वास है। उसके नाम से इस क्षेत्र का नाम भारतवर्ष प्रसिद्ध हुआ। इसी 'अधिकार' में एक दूसरे स्थान पर लिखा है, "भरत नाम्नश्चक्रिणो देवाण्य भारत नाम प्रवृत्तं भारतवर्षाण्य तथोनाम।" अर्थात्, भरतचक्रवर्ती और देव के नाम से भारतवर्ष का नामकरण हुआ और भारतवर्ष से उनका। स्पष्ट है कि यहाँ भरतचक्रवर्ती ही देव हैं। यह उनका वृद्धकृत प्रभाव ही था। और, पहले से ऋषभदेव के पुत्र भरत का प्रसंग था, अतः ऋषभदेव-पुत्र भरत ही समझना अभीष्ट होगा। उन्हीं के नाम से इस देश का नाम भारतवर्ष हुआ।

इसके अतिरिक्त जैनो के सभी पुराण ग्रन्थ ऋषभदेव के पुत्र भरत को ही 'भारतवर्ष' नाम का मूलाधार मानते हैं। उनकी तो परम्परा ही यह है। उसमें दुविधा नहीं है और न दो मत हैं। किन्तु वैदिक परम्परा भी ऐसा ही मानती है, यह उपर्युक्त विवेचन से सिद्ध ही है।

एक बात रह जाती है, राजा तो बहुत हुए—प्रतापशाली और यशस्वी, किन्तु उनके नाम पर इतने बड़े देश का नामकरण हुआ, ऐसा कम ही देखने को मिलता है। यह देश जो पहले भजनाभ था हैमवत कहलाता था, भरत के उपरान्त 'भारतवर्ष' नाम से प्रसिद्ध हो गया और आज तक है। इससे प्रमाणित है कि भरत भारतीय सम्राटों की मौक्तिक माला में इन्द्रमणि थे। इसका एकमात्र कारण था कि उनमें शारीरिक बल था तो आध्यात्मिक शक्ति भी। भरत दोनों के समन्वय स्थल पर 'मानस्तम्भ' की भाँति खड़े थे। उनका मन-बचन-काय एक था। उन्होंने हृदय से प्रजा-मालन किया और उसे समुन्नति के शिखर पर दिया पहुँचा। उन्होंने इससे भी बड़ा काम यह किया कि सांसारिक व्यापार करते हुए भी उस सबसे असंलग्न रहे, निःसंग रहे, अनासक्त रहे। यही कारण था कि मुनि-दीक्षा के लिए अग्ररखे की गाँठ खोलते ही उन्हें केवल ज्ञान हो गया। ३२००० रानियों के पति होते हुए भी भरत बैरागी कहे जाते थे। वे राज में निरक्त थे किन्तु उनका मन बीतरागता की ओर मुड़ा हुआ था। अतः रागी होते हुए भी वे बीतरागी थे। ऋषभदेव को अपने

इस पुत्र पर पूर्ण विश्वास था। उन्होंने पहले ही कह दिया था कि भरत प्रजाओं के पालन-पोषण में समर्थ प्रमाणित होगा।

ऋषभदेव की आस्था के अनुरूप ही न्याय-नीतिपूर्वक भरत ने शासन किया और यही कारण था कि दिग्विजय करने में उसे देर नहीं लगी। षट्-खण्डों को जीतकर उन्होंने वृषभाक्ष पर अपने विजयलेख उत्कीर्ण करवाये, उन्हें गन्धर्व बालाये गुण-स्तवन के रूप में गाती थी। इन्द्र की सभाओं में अप्स-राओं के नृत्य और लय में उन्हीं की तान होती थी। वैत्रवती के तट पर सिद्धबधुयें उन्हीं का वीणा-बादन करती थी। लोक-लोक में उनका यश विस्तृत हो उठा—

मनुश्चक्रभूतामाद्याः षट्खण्डभरताधिपः ।

राजराजोऽधिराट् सन्नादित्यस्योद्घोषितं यशः ॥

नन्दनो वृषभेशस्य भरतः शतभ्राताधुरः ।

इत्यस्य रोवसी व्याप्य शुभा कीर्तिरनश्वरी ॥

—महापुराण, ३७।२०-२१

भरत का यश विश्व में मनु, चक्रवर्तियों में प्रथम, षट्खण्ड भरतक्षेत्र के अधिपति, राजराज, अधिराट् और सम्राट् के रूप में उद्घोषित हो गया था। इस प्रकार वृषभेश के नन्दन, शतभ्राताओं में ज्येष्ठ और प्रजाओं के सुपालक भरत की शुभा, अनश्वरी कीर्ति पृथ्वी और स्वर्ग को व्याप्त करने लगी।

कीर्ति ही नहीं, लक्ष्मी और सरस्वती, जो आपस में सदैव द्वेषभाव रखती हैं, एक-दूसरे पर क्रोध करती हैं, वे भी भरत को प्राप्त कर अत्यन्त प्रेम-पूर्वक रहने लगीं। हेमचन्द्राचार्य ने लिखा है—

धी वाग्देव्यं कुप्यति वाग्देवी द्वेष्टि संततं लक्ष्म्ये ।

भरतमनुगम्य साम्प्रतमनयोरात्यन्तिकं प्रेम ॥

त्रिष० हेम० १।२।६६०

भरत के चरित्र ने लोगों के हृदयों में अलौकिक भावनाओं को जन्म दिया था। उनके मन में यह धारणा जम गई थी कि भरत के चरित्र को सुनने या सुनाने मात्र से कामनायें स्वतः पूर्ण हो जाती हैं। वे भरत को साधारण जन नहीं मानते थे, अपितु अतिमानव। तदनु रूप शक्ति-सम्पन्न वे थे भी।

जन-जन का विश्वास किसी सुदृढ़ आधार पर टिका था। 'भागवत में एक स्थान पर लिखा है, 'हे राजन् ! भगवद्भक्ति से युक्त, निर्मल गुण, कर्मशील राजर्षि भरत का चरित्र कल्याणप्रद आयु का संवर्धक, धनाभिवर्द्धक, यशः-प्रदायी तथा स्वर्ग-अपवर्ग का कारणभूत है।' इसी ग्रन्थ में एक दूसरे स्थान पर कथन है—

आर्षभस्येह राजर्षेभ्योऽपि महत्तमः ।

नानुवर्त्तमहिंति नृपो मक्षिकेव गतमतः ॥

यो दुस्त्वजान् वारसुतान् सुहृदाज्यं हविस्पृशः ।

जहौ युर्वैव मलबुत्तमश्लोकलालसः ॥

—भागवत ५।१४।४२-४३

हे राजन् ! राजर्षि भरत के विषय में पण्डित जन कहते हैं कि जैसे गरुड की बराबरी कोई मक्षिका नहीं कर सकती, उसी प्रकार महात्मा भरत के मार्ग का अनुसरण कोई अन्य राजा मन से भी नहीं कर सकता। अर्थात् उन्होंने जिस तरह शासन किया, कोई अन्य नहीं कर सकता। उन उत्तमश्लोक भरत ने दुस्त्यज स्त्री-पुत्र, मित्र और राज्य की लालसाओं को मलवत् त्याग दिया।

'पम्परामायण' कन्नड का प्रसिद्ध और लोकप्रिय ग्रन्थ है। आज भी वहाँ का जन मानस उसमें वैसी ही पूज्य बुद्धि रखता है जैसी कि यहाँ का 'राम-चरितमानस' में। पम्प ने रामायण के साथ-साथ आदिपुराण की भी रचना की। दोनों की समान ख्याति थी। दोनों में जनमानस रुचा था। पम्प का यश उनके जीवनकाल में ही चतुर्दिक् में व्याप्त हो गया था। उन्हें कविचक्रवर्ती कहा जाता था। उनका जन्म आज से १००० वर्ष पूर्व हुआ था, किन्तु उनके ग्रन्थ काल-सीमा को लांघ कर अमर हो गए हैं। आदिपुराण में भरत के प्रताप का वर्णन आया है—

“पुरुषरमेश्वरपुत्रं भरतेश्वरचक्रवर्तिवर्धितं—

द्वारिणं निवासिगुह्यं व्यंतरामरम्

बहुं काणबुधनसमकुटम् ॥”

—कवि चक्रवर्ती पम्प, आदिपुराण ३०७

अर्थ—पुरु परमेश्वर श्री आदि जिनेश्वर के पुत्र भरत चक्रवर्ती व्यन्तरदेव, अमरेश्वर तथा पृथ्वीतल के समस्त मुकुटबद्ध राजाओं से वंदित थे ।

इसी ग्रन्थ में आगे चल कर भरत को चरमशरीरी और प्रतापवान् कहते हुए लिखा गया है—

पुरुषरमेश्वरपुत्रं चरमांगं चक्रवर्तिं यं दोढे पेणन् ।

दोरे पेणरार् भरतनोले ने करगिबुवा गर्धपर्वतं मागवना ॥

—आदिपुराण, ३१८

अर्थ—पुरु परमेश्वर श्री आदि जिनेश्वर के ज्येष्ठपुत्र चक्रवर्ती भरत चरमशरीरी थे, जिनके प्रताप के समक्ष भरत खण्ड के सभी राजा-महाराजाओं का गर्व नष्ट होता था ।

चरमशरीरी का तात्पर्य है कि उसी भव से वे मोक्ष गये । इसका अर्थ है कि उन्होंने सांसारिक बंधव शक्ति और सामर्थ्य के साथ उपात्त किये और उन्हें त्यागते भी विसम्ब नहीं लगाया । संसार में रहते भी उनका मन संसार से उदासीन था, यह सच है । वे सही अर्थों में राजर्षि थे । मन का मुड़ना ही सब कुछ है । वह मुड़ गया तो जीव मोक्षगामी हो ही जाता है । भरत का मन मुड़ा तो उन्हें क्षणमात्र में केवलज्ञान हो गया । 'भरतेश बंधव' के भोग विजय में लिखा है—

पुरुषरमेश्वरं हरियकुमारन् । नरलोक कोढने राय ।

सुरिदु कण्ठिदूरे क्षण के मुविज कांढ । भरतचक्रिय हेत्सवने ॥

—भरतेश बंधव, प्र० भा०, भोगविजय २०

अर्थ—पुरु परमेश्वर भगवान् आदिनाथ के ज्येष्ठपुत्र भरत नरलोक के एकमात्र चक्रवर्ती सम्राट् थे । क्षणमात्र में दृष्टि बन्द करने से ही उन्हें मोक्ष प्राप्त हो गया था । उनका क्या वर्णन करूँ ।

भरत का जितना मन दिग्विजय करने में लगा, उतना ही धर्म में भी, जितना ब्रह्माण्ड में लगा, उतना ही ब्रह्म में । यदि उन्होंने दश दिशाओं को जीता तो कैलाश पर्वत पर अत्यन्त सुन्दर बहत्तर चैत्यालयों का निर्माण भी करवाया । केवल भौतिक चैत्य ही नहीं, अपितु उनका आत्मचैत्य भी प्रति-

आसित ही उद्य था। अर्थात् उन्होंने विविध करने के उपरान्त आसित कृत्य को ही प्राप्त के लिए नहीं किये। आत्मा में एक प्रकाश उद्भासित हो उद्य था। उसी का परिणाम था चैत्य निर्माण। 'धर्ममृत' एक कलत्र ग्रन्थ है। उसमें लिखा है—

भरतेश्वरमष्टाष्टक विरिद्योत् लेसागि सनेव चैत्यावलिपं ।

तरसाभिगे बणिगुतु पुषपरमेऽवरन् चरितेयं केसिसुतुं ॥

—धर्ममृत १० आठवाँ २६

अर्थ—श्री भरत चक्रवर्ती द्वारा निर्मित अत्यन्त सुन्दर बहुतर चैत्यालय जैसे कैलाश पर्वत पर सुशोभित हो रहे हैं, उसी प्रकार उस धनधी के मन में सम्पूर्ण चैत्यालय प्रतिबिम्बित हो रहे हैं।

ऐसा ही विवेचन गुणभद्राचार्य के उत्तरपुराण में भी प्राप्त होता है। भरत प्रथम चक्रवर्ती थे, फिर भी उनका मन ससार से नितात विरक्त था। यही कारण था कि उन्हें एक मुहूर्त में केवल ज्ञान हो गया। उत्तरपुराण में लिखा है—

आदितीर्यकुतो ज्येष्ठपुत्रो राजसु षोडशः ।

ज्यायादचक्री मुहूर्तेन मुक्तोऽयं कंस्तुलां वजेत ॥

—उत्तरपुराण, ४७।४६, पृ० ४४६

अर्थ—वह भरत, भगवान् आदिनाथ का ज्येष्ठ पुत्र था, सोलहवा मनु था, प्रथम चक्रवर्ती था और एक मुहूर्त में ही मुक्त हो गया था (केवलज्ञानी हो गया था) इसलिए वह किसके साथ सादृश्य को प्राप्त हो सकता था? अर्थात् किसी के साथ नहीं, वह सर्वथा अनुपम था।

भरत का मन विश्व से मुड गया था, यह सच है, किन्तु उन्होंने ससार के प्रति अपने कर्तव्य-निर्वाह में कभी कोई कमी नहीं की, यही कारण है कि उन्हें अनुपम कहा जाता है। विश्व भर का भरण-पीषण उन्होंने मन से किया और युगों-युगों तक उनका नाम बना रहा। यहाँ तक कि इसी कारण उन्हें सोलहवा मनु कहा जाता है। नाभिराय अन्तिम कुलकर थे और अन्तिम मनु, किन्तु ऋषभदेव और उनके बाद भरत ने भी वही काम प्रतिष्ठा, मनस्विता और

सुबुद्धता से सम्पन्न किया, अतः उन्हें भी मनु कहा जाता है। भगवज्जिनसेनाचार्य (२वीं भागी ईसवी) ने महापुराण में लिखा है—

नाभिश्च तन्नाभिनिकर्तनेन प्रजासमाश्वासनहेतुरासीत् ।

सोऽजीजनत् वृषभं महात्मा, सोऽप्यग्रसूनुं मनुमादिराजम् ॥

—महापुराण ३।२३७

अर्थ—पुत्रोत्पत्ति के समय नाभि के नाल को काटने का उपाय सिखाने के कारण नाभिराय प्रजाओं के समाश्वासन के हेतु बने। उन्होंने वृषभ—जैसे महात्मा को जन्म दिया और वृषभदेव के ज्येष्ठपुत्र आदिराजा भरत भी मनु हुए।

इसी को एक दूसरे स्थान पर महापुराणकार ने 'वृषभो भरतेशश्च तीर्थ चक्रवर्तौ मनुः' (३/२३२) कहा है। इसका अर्थ है कि वृषभदेव मनु और तीर्थङ्कर थे, भरतेश चक्रवर्ती और—'मनु' संज्ञा से अभिहित होते थे।

महात्मा तुलसीदास ने उस व्यक्ति को 'भरत' के समान कहा है जो संसार का सुचारु ढंग से 'भरन-पोषन' करता है। उन्होंने 'रामचरितमानस' में लिखा है—

‘विश्वभरन पोषण कर जोई। ताकर नाम भरत अस होई ॥’

—रामचरितमानस १।१६७।७

भरत ने केवल पालन-पोषण ही नहीं किया, अपितु प्रजाओं को 'कुलधर्म' और 'अर्हन्त की पूजा' आदि के ढंग में भी निष्णात बनाया। ऐसा जिनसेनाचार्य ने महापुराण में स्पष्ट किया है—

कुलधर्मोऽयमित्येषामर्हत् पूजादिवर्णनम् ।

तदा भरत राजधिरन्वबोधवनुकृमात् ॥

—महापुराण—२८।२५

अर्थ—राजर्षि भरत ने अनुक्रम से, यह कुलधर्म है और यह अर्हन्त की पूजादि का ढंग है, बतलाया।

विजयी प्रमत्त होता है, ऐसा नीतिकारों ने कहा है, किन्तु दशो दिशाओं की खानदार जीव भी भरत को मदनोन्मत्त न बना सकी और वे जिनेन्द्र की पूजा-

प्रार्थी करता न भूले । उन्होंने यज्ञ किया, चक्र लेकर चले और दिव्यजय कर लिया । किन्तु, लौटते समय कैलाश पर्वत पर जिनेन्द्र की बन्धना विस्मरण न कर सके । दोनों अनुभूतियों का विवेचन 'प्रतिष्ठासारोद्धार' में प्राप्त होता है ।

जिने वलं करिष्याम इत्यधिवसिताः किल ।

जिस्वा विशो जिनानिष्ट्वा निर्बन्ता भरतावयः ॥

—प्रतिष्ठासारोद्धार—७.

कैलाश पर्वत से आदीश्वर प्रभु-वृषभदेव मोक्ष गये थे । वह एक तीर्थ-स्थल बन गया था । भरत ने वहाँ अनेक स्वर्णमयी जिनग्रहों का निर्माण करवाया । उनमें रत्नमयी प्रतिमाओं को प्रतिष्ठित करवाया । दानतविलास में कविद्वर दानतराय ने इसका सुन्दर वर्णन किया है ।

फूली वसंत जहाँ आबिसुर शिवपुर गये ।

भरत भूप बहत्तर जिनगृह कनकमयी सब निरमये ॥

तीन चौबीस रत्नमय प्रतिमा ग्रंगरंग जे जे भये ।

सिद्ध समान शीघ्र सम सबके अद्भुत शोभा निरमये ॥

दानत सो कैलास नमों हों गुन का पे जात बरनये ।

—दानत विलास—५७

अर्थ—जहाँ भगवान् श्री आदिनाथ शिवपुर (कैवल्यधाम, निर्वाण) को प्राप्त हुए, उस कैलास पर बसन्त ऋतु फूल रही है—आनन्द उद्यान महका रहे हैं । भरत चक्रवर्ती ने बहत्तर जिनमन्दिरों का निर्माण करवाया है, वे कांचन उपकरण से निर्मित हैं । उन चैत्यालयों में बहत्तर रत्नमय प्रतिमाएँ विराजमान हैं, जिनका अग्र रंग स्वामाविक चाहता लिये हुए हैं । अलौकिक शोभा-सम्पन्न उन समस्त प्रतिमाओं के शीर्ष सिद्ध भगवान की मुद्रा में है । कवि दानतराय कहते हैं कि उस कैलास को नमस्कार है । जहाँ प्रभु को निर्वाण प्राप्त हुआ उसके गुण कीन गा सकता है ।

एक बार भरत चक्रवर्ती ने तीन बातें एक साथ सुनी—चक्ररत्न की प्राप्ति, पिता ऋषभदेव को केवल ज्ञान और पुत्र-जन्म । उन्होंने सोचा कि धर्म

के प्रसाद से ही सब शुभ सम्पत्ति प्राप्त होती है, अतः पहले जिन-पूजन किया, फिर चक्ररत्न-प्राप्ति महोत्सव और पुत्र-जन्म मंगल अनुष्ठान किया। 'जैनपद संग्रह' में कवि खानतराय ने इस दृश्य को चित्रित किया है—

एक समय 'भरतेश्वर' स्वामी तीन बात सुनी तुरत फुरत ।

चक्ररत्न, प्रभुज्ञान, जनम सुत, पहले कीजे कौन करत ॥

धर्म प्रसाद सबे शुभ सम्पत्ति जिन पूजे सब तुरत तुरत ।

चक्र-उछाह कियो सुत मंगल 'खानत' पायो ज्ञान तुरत ॥

—जैनपदसंग्रह, च० भा०—२६७

अर्थ—एक समय भरत चक्रवर्ती ने तुरत फुरत तीन वृत्तान्त सुने—उन्हें तीन धोर से तीन शुभ समाचार प्राप्त हुए। उन्हें चक्ररत्न की प्राप्ति हुई थी, कैलासगिरि पर श्री ऋषभदेव को केवल ज्ञान हुआ था और महासाआज्ञी ने पुत्र प्रसव किया था—वात्ताहिरो ने, अन्तः पुरिकाधो ने तीनों बातें उन्हें सूचित कीं। चक्रवर्ती ने विचार किया कि किस कृत्य को प्रथम करना चाहिए। क्योंकि सम्पूर्ण शुभ सम्पत्ति की उपलब्धि धर्म कृपा से होती है और श्री जिनेश्वर की पूजा करने से समस्त दुरित क्षय होता है। यह विचार कर उन्होंने श्री जिनेन्द्र की पूजा की, तदनन्तर चक्ररत्न-प्राप्ति महोत्सव तथा पुत्र-उत्पन्न होने के मंगल कौतुक किये—यह ज्ञान-पूर्वक भरत ने समझा।

लौकिक और आध्यात्मिक का ऐसा समन्वय कोई लोकोत्तर चरित्र ही कर सकता है, दूसरा नहीं। ऐसे लोकोत्तर चरित्रों के सुनने और सुनाने मात्र से ही कामनाएं पूर्ण हो जाती हैं। श्री भद्रभागवत् को भरत की लोकोत्तरता में पूर्ण विश्वास था। उसमें लिखा है, “हे राजन् ! राजर्षि भरत के पवित्र गुण और कर्मों की भक्तजन भी प्रशंसा करते हैं। उनका यह चरित्र बड़ा कल्याणकारी, धायु और धन की वृद्धि करने वाला और अन्त में स्वर्ग तथा मोक्ष की प्राप्ति कराने वाला है। जो पुरुष इसे सुनता या सुनाता है और इसका अभिनन्दन करता है, उसकी सम्पूर्ण कामनाएं स्वयं पूर्ण हो जाती हैं, दूसरों से उसे कुछ भी नहीं माँगना पड़ता।” वह उद्धरण है—

“य इवं भागवतसमाजितावदातपुणकर्मणो राजर्षेर्भरतस्यानु चरितं स्वस्त्य-
यनमायुष्यं धन्यं यशस्यं स्वर्ग्यापिबर्ग्यं बानुश्रुतोत्पात्तवास्य स्थभिनन्दति च
सर्वा एवाशिष आत्मन् आशास्ते न कांचन परत इति ।”

—भागवत्—५।१५।४६.

यह उनकी कर्तव्य-लिप्ता का ही परिणाम था कि भारतभूमि स्वर्ग से भी अधिक सुखदायी और मनोरम हो गई थी। 'विष्णुपुराण' एक महत्त्वपूर्ण पुराण है। भागवत् के बाद इसी का नाम आता है। यह वैष्णवदर्शन का मूल ग्रन्थमन्त्र है। श्री रामानुजाचार्य ने अपने 'श्रीभाष्य' में इसके बहुत उद्धरण दिये हैं। इसमें ज्ञान और भक्ति का सामाज्यस्य अच्छे ढंग से किया गया है। विष्णु की प्रधानता होते हुए भी सकीर्णता नहीं है, ऐसा मैं मानता हूँ। तो, उस विष्णु पुराण में भरत से पालित-पोषित भारतभूमि का सौन्दर्य-विवेचन है। एक स्थान पर लिखा है—

गायन्ति देवाः किल गीतकानि धन्यास्तु ते भारत भूमिभागे ।

स्वर्गायवर्गास्पदमार्गभूते भवन्ति भूयः पुरुषाः सुरस्वात् ॥

— विष्णुपुराण — २।६।२४

देवगण भी गान करते हैं कि भारत भूमि में जन्म लेने वाले लोग धन्य हैं। स्वर्ग और अपवर्ग कल्प इस देश में देवता भी देवत्व को छोड़ कर मनुष्य योनि में जन्म लेना चाहते हैं।

श्री मद्भागवत् में भी भारतवासियों के सौभाग्य पर ईर्ष्या करने वाले देवों का एक चित्र है। देवगण ऐसा सोच पाते हैं कि भगवान् ने प्रसन्न होकर ही इन्हें भारत में जन्म दिया है। उनकी इच्छा है—काश ! हमारा भी वहाँ जन्म होता। वह श्लोक है—

अहो अमीषां किमकारिशोभनं प्रसन्न एषां स्विदुत स्वयं हरिः ।

येज्जन्म लब्धं नृषु भारताजिरे मुकुन्ध संबोधायिक स्पृहा हिनः ॥

— श्री मद्भागवत, ५।१६।२१

देवता भारतीय मनुष्यों के सौभाग्य पर ईर्ष्या करते हुए कहते हैं—अहा ! इन लोगों ने न जाने ऐसे कौन-से शुभ कर्म किये थे, जिनके फल-स्वरूप इन्हें भारतभूमि के प्रागण में मानव जन्म सुलभ हुआ है। लगता है भगवान् स्वयं इन पर प्रसन्न हो गये थे। भगवान् की सेवा के योग्य ऐसा जन्म पाने की इच्छा तो हमारी भी होती है।

भरत जो कुछ बन सके, वह उनके पिता-पितामह की देन थी। उनके पितामह नाभिराय तो १४ कुसकरों में-से अन्तिम कुसकर थे। कुसकर उसे

कहते हैं जो जनता के जीवन की नई समस्याओं का सही समाधान देता है। कल्पवृक्षों के युग बाद जब कर्मभूमि का प्रारम्भ हुआ तो नये प्रश्न आये और उनके लिए मार्ग-दर्शन अनिवार्य हो गया। नाभिराय के काल में उत्पन्न होते समय बालक की नाभि में नाल दिखाई देने लगा, तब उन्होंने नाल काटने की विधि सिखाई, इसीलिए वे नाभिराय कहलाये। किन्तु, शाश्वतकोश में लिखा है— जिस प्रकार प्राणी के अंगों में नाभि मुख्य होती है, इसी प्रकार सब राजाओं में नाभिराज मुख्य थे।^१ मेदिनी कोश में दूसरी बात है—चक्र के मध्य में जिस प्रकार नाभि (कीली) मुख्य होती है, इसी प्रकार सब क्षत्रिय राजाओं में नाभि मुख्य थे।^२ सब का तात्पर्य है कि नाभिराय एक प्रसिद्ध कुलकर थे। उनके नाम पर यह देश अजनाभवर्ष कहलाता था। भारतवर्ष से पूर्व इस देश का यही नाम था। भरत उन्हीं के पौत्र थे। प्रताप तो उन्हें विरासत में मिला था। फिर यदि वे उनसे भी अधिक ख्याति प्राप्त हुए तो वह उनकी परम्परा के अनुकूल ही था।

भरत के पिता सम्राट् ऋषभदेव का जैसा उन्मुक्त और व्यापक व्यक्तित्व था, वह आज भी भारत के भिन्न-भिन्न धर्मग्रन्थों में सुरक्षित है। भिन्न-भिन्न से तात्पर्य है कि केवल जैन ग्रन्थों में ही नहीं, अपितु ऋग्वेद, पुराण और भागवत् आदि में भी। ऋग्वेद में एक स्थान पर लिखा है कि ऋषभदेव महान पराक्रमी थे, युद्ध में अजेय थे। इन्द्र ने उन्हें युद्ध के सामान और रथ भेंट किये थे।

त्वं रथं प्रभते योषमृष्वसावो युध्यन्तं वृषभं वसधुम् ।

त्वं तुयं वेतसवे स आहन्त्यं तुजि गृणन्तमिन्द्र । तू तो ॥

—ऋग्वेद ४।६।२६।४

युद्ध सामग्री और रथ, इन्द्र ने भेंट किये नहीं, करने पड़े। इन्द्र की ईर्ष्या प्रसिद्ध ही है। वह ऋषभदेव के पराक्रम से भी ईर्ष्या-दग्ध हो उठा था। एक बार उसने उनके राज्य में वर्षा नहीं की, तब इन्द्र की मूर्खता पर हसते हुए ऋषभदेव ने अपनी योगमाया के प्रभाव से खूब जल बरसाया। इस आशय की ऋचा अथर्ववेद में मिलती है—

अतिसृष्टो अशं वृषभोऽतिसृष्टो अग्नयो दिव्याः ।

अथर्ववेद, १६वां काण्ड, प्रजापतिसूक्त

१. “मायवगे क्षत्रिये नाभि. प्रधाननृपतावपि”, शाश्वतकोश-५०८.

२. “नाभिर्मुख्यनपे चक्रमध्यक्षत्रिधोरपि ।” मेदिनीकोश-अ वर्ग ५.

इसी प्रसंग को महाकवि सूरदास ने सूरसागर में रोचक ढंग से प्रस्तुत किया है। उन्होंने लिखा है—

इन्द्र देखि ईरषा मन लायो । करिके क्रोध न जल बरसायो ॥

रिषभदेव सब ही यह जानी । कह्यो इन्द्र यह कहा मन आनी ॥

निज बल जोग नीर बरसायो । प्रजा लोग प्रति ही सुख पायो ॥

—सूरसागर, पृ० १५०-५१

तो ऋग्वेद-अथर्ववेद की परम्परा बतलाती है कि इन्द्र ने अपने ईर्ष्यालु स्वभाव का परिचय ऋषभदेव के विरोध से भी प्रस्तुत किया। किन्तु, जब उसका वश न चला तो ऋषभदेव की सेवा में दत्त-चित्त हुआ। जैन परम्परा प्रारम्भ से ही, इन्द्र को ऋषभदेव का परमभक्त मानती है। कुछ भी हो, वह ऋषभनाथ का भक्त था या बना, एक ही बात है। वह भक्त था, इतना पर्याप्त है और यह दोनों से सिद्ध है।

महाभारत ने ऋषभदेव को क्षात्रधर्म का आदिप्रवर्तक माना है। शेष धर्म इसके बाद प्रचलित हुए, ऐसा कथन महाभारत के शान्तिपर्व (१२।६४।२०) में आया है—

क्षात्रो धर्मो ह्यादिदेवात् प्रवृत्तः ।

पश्चादन्ये शेषभूताश्च धर्माः ॥

ऋषभदेव सब राजाओं में श्रेष्ठ थे और तमाम क्षत्रियों के पूर्वज थे, यह बात ब्रह्माण्डपुराण ने भी स्वीकार की है। उसका कथन है—

‘ऋषभं पार्थिवश्रेष्ठं सबक्षत्रस्यपूर्वजम् ।’ २।१४.

वायुपुराण ने ऋषभदेव को महान् द्युतिवान् नृपतियों में श्रेष्ठ तथा सम्पूर्ण क्षत्रियों का पूर्वज कहा है।^१ इसी कारण श्री ऋषभ भगवान् का राज्यकाल प्रजाओं के परम सुख का समय था। उनसे रक्षित प्रजाओं

१. वायुपुराण, पूर्वार्ध, ३३।५०-५१.

२. महायुद्ध, अनुवर्णपाद, १४।४६.

३. सिंगपुराण, ४७।२६.

में एक पुरुष भी ऐसा नहीं था जो अपने पास किसी वस्तु के अभाव का अनुभव करता हो। परस्पर में कोई किसी से याचना नहीं करता था। यदि याचना का प्रसंग था तो यही कि सभी अपने पारिवर्ग की कृपा चाहते थे।^१ उनका नाम ऋषभदेव सार्यक था। उनके सुन्दर और सुडौल शरीर, विपुल-कीर्ति, तेज, बल, ऐश्वर्य, यश, पराक्रम और शौर्य आदि गुणों के कारण पिता ने 'ऋषभ' यह नाम रक्खा। यथा—

“तस्य हि वा इत्थं वर्णना बरीयसा बृहच्छलोकेन बौजसा बलेन भिया यशसा वीर्यं शौर्याभ्यां च पिता ऋषभ इति नाम अकार।”

—भागवत ५।४।२

ऋषभदेव अपने युग के प्रवर्तक थे। कल्पवृक्षों का युग समाप्त हो चुका था। अब कर्मभूमि का प्रारम्भ हो रहा था। उन्होंने अपनी प्रजा को कृषि का मन्त्र दिया। अर्थात् सबसे पहले खेती करने की विद्या ऋषभदेव ने सिखाई। इसी कारण आचार्य समन्तभद्र ने स्वयम्भूस्तोत्र के प्रारम्भ में ही लिखा है—

प्रजापतियः प्रथमं जिजीविषुः

शशास कृष्याविषु कर्मसु प्रजाः । १।२

अर्थ—जिन्होंने प्रथम प्रजापति के रूप में देश, काल और प्रजा-परिस्थिति के तत्त्वों को अच्छी तरह से जान कर, जीने की-जीवनोपाय को जानने की इच्छा रखने वाले प्रजाजनो को सब से पहले कृषि आदि कर्मों में शिक्षित किया।

इस प्रकार उन्होंने कृषि करके अन्न उत्पन्न करने की और अन्न से भोजन बनाने की विधि सिखाई। सिन्धु घाटी की खुदाई में जौ और गेहूँ के दाने मिले हैं। अतः यह सिद्ध हो जाता है कि उस युग में कृषि प्रारम्भ हो चुकी थी। शतपथ ब्राह्मण (१।६।१।३) में भी इसका वर्णन मिलता है। कृषि विद्या के प्रवर्तक होने के कारण ही ऋषभदेव ने अपना चिन्ह बैल निश्चित किया था। बैल कृषि में सहायक था। इससे प्रमाणित हो जाता है कि ऋषभदेव ने कृषि का व्यापक प्रचार-प्रसार किया और उन्होंने उस युग की भोजन की बृहद् समस्या को निबटा लिया। डॉ० पी० सी० राय चौधरी का

अभिमत है कि भगवान् ऋषभ ने पाप्मान युग के अन्त में और कृषि-युग के प्रारम्भ में जनपदों का प्रचार मगध में किया ।^१ शायद डॉ० चौधरी को यह विविक्ष नहीं था कि कृषि के आविष्कर्ता ऋषभदेव ही थे ।

ऋषभदेव का दूसरा महत्वपूर्ण कार्य था—लिपि और गणित की शिक्षा । उन्होंने अपनी पुत्री ब्राह्मी को भाषा और लिपि का ज्ञान कराया । उसी के नाम पर भारत की प्राचीन लिपि को ब्राह्मी^२ लिपि कहते हैं । भाषाविज्ञान-वेत्ताओं का कथन है कि ब्राह्मी लिपि पूर्ण और सर्वग्राह्य थी । घाने चलकर इस लिपि से अनेक लिपियों का विकास हुआ । ऋषभदेव ने अपनी दूसरी पुत्री सुन्दरी को अको का ज्ञान करवाया । उससे गणित विद्या का प्रसार हुआ ।

गान्धर्वविद्या के प्रथम उपदेशक ऋषभदेव ही थे । आचार्य जिनसेन ने आदि पुराण में लिखा है कि तीर्थङ्कर श्री वृषभदेव ने वृषभसेन को गीत, बाद्य तथा अर्थ-संग्रह रूप गान्धर्व विद्या का उपदेश दिया, जिसमें १०० से ऊपर अध्याय (प्रकरण) हैं ।

विभुर्वृषभसेनाय गीत-बाद्यार्थसंग्रहम् ।

गन्धर्वशास्त्रमाब्रवी यन्महाध्यायः परः शतम् ॥

—आचार्य श्री जिनसेन, आदिपुराण—१६।१२०

ऋषभदेव ने एक सुनियोजित व्यवस्थित रूप में प्रजाओं को अनुशासित किया । उन्होंने कर्म के आचार पर वर्गीकरण कर दिया । चतुर्वर्ण व्यवस्था के सूत्रधार बने । चाणक्य की अर्थनीति में जिस चतुर्वर्ण व्यवस्था पर अधिकाधिक बल दिया गया है, वह ऋषभदेव से प्रारम्भ हो चुकी थी । आचार्य सोमदेव के 'नीतिवाक्यामृत' में वर्णित चतुर्वर्णव्यवस्था चाणक्य की अर्थनीति से प्रभावित न होकर, अपनी ही पूर्व परम्परा, अर्थात् ऋषभदेव की व्यवस्था से प्रभावित थी । कुछ अनुसन्धित्सु इस सम्बन्ध में भ्रम-मूलक मान्यताएँ स्थापित कर डालते हैं । उन्हें उपर्युक्त बात पर अधिक ध्यान देने की आवश्यकता है ।

भोगभूमि के बाद कर्मभूमि के प्रारम्भ में, बरा और बराबासियों की आवश्यकताओं के समाधान में ऋषभदेव ने जिस धीरे धीरे काम का परिचय दिया,

१. Dr. P.C. Roy Chaudhary, Jainism in Bihar, P. 7. L. P.

२. 'भरतस्थानुजा ब्राह्मी'—आचार्य जिनसेन महापुराण, ४०।१७५

वही आत्म-विद्या के पुरस्कर्ता होने में भी किया। वे श्रमणधारा के आदि प्रवर्तक कहे जाते हैं। 'श्रमण' शब्द से पड़ा 'श्रम' उन्होंने लौकिक और पारलौकिक दोनों ही क्षेत्रों में सार्थक बनाया। उन्होंने 'सागर-वारि-वासस वसुधा बधू' का जिस रुचि से भोग किया, उतनी ही रुचि से उसका त्याग करते भी देर न लगायी। वे मोक्ष-गामी थे। आत्मवान् बने। भूख-प्यास भेली, व्रत-नियमों से चलायमान नहीं हुए। स्वयम्भूस्तोत्र का एक श्लोक है—

विहाय यः सागर-वारि-वाससं

बधूमिषेवां वसुधा-बधूं सतीम् ।

मुमुक्षुरिक्ष्वाकु-कुलाबिरात्मवान्

प्रभुः प्रवद्रात्र सहिष्णुरच्युतः ॥ —स्वयम्भूस्तोत्र १।३

अर्थ—जो मुमुक्षु थे, आत्मवान् थे और प्रभु थे। जिन इक्ष्वाकु कुल के आदिपुरुष ने सती बधू को और उसी तरह इस सागर-वारि वसना वसुधा बधू को भी, जो कि सती सुशीला थी—त्याग करके दीक्षा धारण की। जो सहिष्णु हुए और अच्युत रहे।

इसी आशय से सम्बन्धित कुछ पक्तियाँ श्रीमद्भागवत् में भी निबद्ध हैं। उसमें लिखा है—भगवान् ऋषभदेव यद्यपि परम स्वतन्त्र होने के कारण स्वयं सर्वदा ही सब प्रकार की अनर्थ परम्परा से रहित केवल आनन्दानुभव-स्वरूप और साक्षात् ईश्वर ही थे, तो भी विपरीतवत् प्रतीत होने वाले कर्म करते हुए उन्होंने काल के अनुसार धर्म का आचरण करके उसका तत्त्व न जानने वालों को उसकी शिक्षा दी। साथ ही सम, शान्त, सुहृद एवं कारुणिक रह कर धर्म, अर्थ, यश, संतान, भोगसुख तथा मोक्षसुख का अनुभव करते हुए गृहस्थाश्रम में लोगों को नियमित किया।

“भगवान् ऋषभसंज्ञ आत्मतंत्रः स्वयं नित्य निवृत्तानर्थपरम्परः केवलानन्दानुभवः ईश्वर एव विपरीतवत् कर्माभ्यारम्भमाणः कालेनानुगतं धर्ममाचारेणोपशिक्षयन्सह्रिदां सम उपशान्तो मंत्रः कारुणिको धर्मार्थं यशः प्रजानन्वामृतावरोधेन गृहेषु लोकं नियमयत् ।” —भागवत् ५।४।१४

भागवत में ऋषभदेव-सम्बन्धी अनेकानेक उद्धरण प्राप्त होते हैं। एक स्थान पर परीक्षित ने कहा—हे धर्म तत्त्व को जानने वाले ऋषभदेव ! आप

धर्म का उपदेश कर रहे हैं। प्रवच्य ही आप वृषभ रूप से स्वयं धर्म हैं। अधर्म करने वाले को जो नरकादि स्थान प्राप्त होते हैं, वे ही स्थान आपकी निन्दा करने वाले को मिलते हैं।

धर्मं वृषीषि धर्मज्ञ धर्मोऽसि वृषरूपधृक् ।

यदधर्मकृतः स्थानं सूचकस्यापि तद् भवेत् ॥

—भागवत् १।१७।२२

श्रीमद्भागवत में ही, 'ऋषभ' संज्ञा का औचित्य बताते हुए ऋषभदेव का स्वयं का एक कथन है कि मेरा यह शरीर दुर्विभाव्य है, अर्थात् मेरी शारीरिक आचार क्रियायें सबकी सहज समझ में नहीं आतीं। मेरे हृदय में सत्त्व का निवास है, वही धर्म की स्थिति है। मैंने धर्म-स्वरूप होकर अधर्म को पीछे धकेल दिया है, अतएव मुझे आर्य लोग 'ऋषभ' कहते हैं।

इवं शरीरं मम दुर्विभाव्यं सत्त्वं हि मे हृदयं यत्र धर्मः ।

पृष्ठे कृतो मे यदधर्मधारावतो हि मां ऋषभं प्राहुरार्याः ॥

—भागवत् ५।५।१६

भागवत में ही ऋषभदेव को अनेक योग चर्चाओं का आचरण करने वाले 'कैवल्यपति' की संज्ञा से विभूषित किया है—इति नानायोगचर्याचरणो भगवान् कैवल्यपतिः ऋषभः । (५।६।२४)। जैन ग्रन्थों में उन्हें पद-पद पर 'योगिराट्' की संज्ञा दी गई है। योगि शब्द के समान रूप से प्रयुक्त होने पर भी, मुनि शब्द ऐसा है जो केवल ऋषभदेव के लिए प्रयोग किया गया है। अन्य किसी 'ऋषि' के लिए नहीं। मुनि और ऋषि दो परम्पराएँ थी, दो धाराएँ थी, जिनके मूल रूप में अन्तर था। इन्हें ऋषि सम्प्रदाय और मुनि सम्प्रदाय भी कह सकते हैं। पहले कुछ समय तक तो दोनों एक दूसरे की पूरक रही, किन्तु आगे चल कर उनमें बृहदन्तर हो गया। ऋषि परम्परा में कर्मकाण्ड, मासाहार और असहिष्णुता की प्रवृत्ति बढ़ी तो मुनि परम्परा (श्रमणधारा) में अहिंसा, निरामिषता और विचार सहिष्णुता बढ़ती गई। किन्तु ये सब बाद की बातें हैं। पहले दोनों में समन्वय था। गीता में 'मुनि' का प्रशंसा-मूलक एक श्लोक है—

दुःश्रेयसमुद्भिन्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।

वीतरागमयक्रोधः स्थितिर्धर्मो नृनिश्चयते ॥

—भागवत् गीता, २।५६

गीता ही नहीं, ऋग्वेद में भी मुनि वर्ग के अनेकानेक मूलतत्त्वों का उल्लेख प्राप्त होता है। तो, पहले दोनों धाराएँ समन्वित थीं, पूरक थीं। ऋषभदेव उस समन्वय के प्रतीक ही थे। इस सम्बन्ध में डॉ० मंगलदेव शास्त्री का एक कथन दृष्टव्य है—

“ऋग्वेद के एक सूक्त (१०।१३६) में मुनियों का अनोखा वर्णन मिलता है। उनको वातरक्षनाः—दिगम्बर, पिशंगा बसते मला—मृत्तिका को धारण करते हुए पिगल वर्ण और केशी—प्रकीर्ण केश, इत्यादि कहा गया है। यह वर्णन श्रीमद्भागवत् (पंचम स्कन्ध) में दिये हुए जैनियों के आदि तीर्थङ्कर ऋषभदेव के वर्णन से अत्यन्त समानता रखता है। वहाँ स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि ऋषभदेव ने वातरक्षना श्रमणमुनियों के धर्मों को प्रगट करने की इच्छा से भवतार लिया था।”

ऐसी श्रमण परम्परा भरत को प्राप्त हुई थी। उन्होंने भी चक्रवर्ति की विभूति का भोग किया और बाद में मोक्ष वधू भी प्राप्त की। भरत के कारण ही ऋषभदेव को लोग ‘पितामह’ कहते हैं। भरतखण्ड के सभी प्राणी भरत की प्रजा थी और भरत ऋषभदेव के पुत्र थे, अतः लोग ऋषभदेव को ‘पितामह’ संज्ञा से अभिहित करते थे। १७वीं शती के प्रसिद्ध कवि बनारसीदास ने लिखा है—

भरतखण्ड के प्राणी जेते । प्रजा भरत राजा की ते ते ।

भरत नरेश ऋषभ की शाखा । तातें लोग पितामह भाला ॥

—बनारसी बिलास, ३८

ऋषभदेव और भरत के चरित्र में एक विशेषता थी कि उनका जीवन सार्वजनिक था, सर्वमान्य था, अखण्ड था और अबाधित था। यही कारण है कि जैन, वैदिक, वैष्णव आदि सभी सम्प्रदायों के ग्रन्थों में उनका समभाव से स्मरण किया गया है। जैन परम्परा ऋषभदेव को अपना प्रथम तीर्थङ्कर स्वीकार करती है, वैदिक परम्परा के वेद, उपनिषद् पुराण उन्हें अपना भगवान् और अवतार मानते हैं। दोनों परम्पराओं में उनका जीवन घटना-पूर्ण और प्रभावक रहा है तथा जीवन घटनाओं में एक सीमा तक साम्य भी पाया जाता है।

श्रीमद्भागवत् और अन्य पुराण ग्रन्थों के अनुसार यह सिद्ध ही है कि महायोगी भरत ऋषभदेव के शतपुत्रों में ज्येष्ठ थे और उन्हीं से यह देश भारतवर्ष कहलाया। इसके अतिरिक्त भागवत् में एक और भी आश्चर्यजनक तथ्य लिखा है—

तेषां वै भरतो ज्येष्ठो नारायण परायणः ।*

बिष्णोस्तर्षर्षमेतद् यान्नाम्ना भारतवद्भुतम् ॥

—११।२।१७

इसके अनुसार भरत भी परम भागवत थे और नारायण भगवान् ऋषभदेव के भक्त थे। अतएव एक और जहाँ जैनधर्म में उनका अत्यन्त सम्मानयुक्त पद था, वही दूसरी ओर भागवत् जनता भी उन्हें अपना आराध्य मानती थी। इतना ही नहीं, ऋषभ और भरत इन दोनों का वंश-सम्बन्ध उन्हीं स्वायम्भुव मनु से था, जिनसे और भी ऋषियों का वंश और राजबियों की परम्परा प्रख्यात हुई।

लगता है, ऋषभदेव और भरत के सार्वभौम व्यक्तित्व के कारण ही सभी लोगो और सभी सम्प्रदायो का उनके प्रति आदरभाव रहा। किन्तु पश्चाद्-वर्ती काल में उनके द्वारा स्वीकृत नानाविध योगचर्याओं और मोक्षमार्गों में-से एक-एक को लेकर नाना पन्थ और सम्प्रदायो की सृष्टि हुई। धीरे-धीरे वे अपने मूलस्रोत के वास्तविक रूप और आदर्श को ही भूल गये। यदि उस मूल रूप पर थोड़ा भी विचार किया जाये तो धर्मों की इस विविधता और अनेकता में भी एकता के बीज सन्निहित मिल जायेंगे। अनेकता में भी ऋषभदेव और भरत एकता की कड़ी बन सकते हैं। पन्थ और सम्प्रदायों के ये बिखरे हुए मोती ऋषभ भरत के सूत्र को पिरोकर चित्र विचित्र मणियों की एक माला के रूप में गूँथे जा सकते हैं। आवश्यकता है आग्रह छोड़कर अनेकान्त दृष्टि अपनाने की।

* ऊँ 'नमो भगवते उपरामरीक्षामोपरतानाम्नाय नमोऽकिञ्चन विष्णाय ऋषि ऋषभाय नमः' इति परमहंसपरमयुरवे आत्मारामाधिपतये नमो नम इति ॥

वीर भोग्या वसुन्धरा

: ३ :

क्षात्र धर्म

विगत पृष्ठो पर, अनेकानेक ग्रन्थों के माध्यम से यह विद्व किया जा चुका है कि भगवान् ऋषभदेव ही क्षात्र धर्म के आदि प्रवर्तक थे। वे स्वयं क्षत्रिय थे और उन्होंने क्षात्रधर्म का सही अर्थों में प्रवर्तन किया। वे ऐसा करने में समर्थ थे, उन्होंने किया। केवल पृथ्वी जीतना, शत्रुओं से लड़ना, हमले करना ही क्षात्रधर्म नहीं है, अपितु विषय-वासना, वृष्णा और मोह आदि जीतना भी क्षात्रधर्म है, ऐसा उन्होंने कहा। शायद इसी कारण आज क्षत्रियों को अध्यात्म विद्या का पुरस्कर्ता माना जाता है। जितना और जैसा युद्ध पृथ्वी जीतने के लिये आवश्यक है, उतना ही उसमें भी अधिक मोहादिक जीतने के लिये अनिवार्य है। एक का रत्न बाह्य होता है और दूसरे का आन्तरिक। दूसरा प्रथम की अपेक्षा अधिक कठिन और दुरूह होता है। ऋषभदेव और भरत दोनो ने दोनो प्रकार के शत्रुओं को जीता था। क्षात्रधर्म की यही सही परिभाषा है। आगे चल कर, अनेक आचार्यों ने क्षात्रधर्म पर कुछ न कुछ लिखा, उनमें-से कतिपय की मान्यतायें यहाँ प्रस्तुत की जाती हैं।

अहंन् बिभर्षि सायकानि
धन्वाहंनिष्कं यज्ञतं विश्वरूपम् ।
अहंनिदं दधसे विश्वमम्भं
नवाग्रो जीयो वर स्ववन्द्यवस्ति ॥

—ऋग्वेद २।३३।१०.

हे अहंत् ! तुम धर्म रूपी बाणों को, सदुपदेश रूप धनुष को तथा अनन्त ज्ञानादि रूप आभूषणों को धारण किये हो। आप जगत प्रकाशक केवल ज्ञान को प्राप्त किये हुये हो। संसार के जीवों के रक्षक हो। काम क्रोधादि शत्रुओं के लिये भयप्रद हो। आप के तुल्य बलवान् अन्य कोई नहीं है।

स्वात्मजयं व्रज याति सीरमखिरान्नो चेद् दुरन्तान्तक ।

साह व्यासगम्भीरवक्त्रविषये जघ्ने भवाग्धर्मधेः ॥

—आत्मानुशासनम्—४६वां श्लोक

अर्थ—तू स्वतन्त्रता का अनुभव कर, जिससे कि वीर ही उस तृष्णा नदी के किनारे जा पहुँचे। यदि तू ऐसा नहीं करता है तो फिर उस विषय तृष्णा रूप नद के प्रवाह में बह कर दुर्बल यथ रूप मगर के खुले हुए गम्भीर मुख-जैसे भयानक संसार समुद्र के मध्य जा पहुँचेगा।

आत्माद्याद्य बहुजिह्वं विषयिभिर्व्यावृत्तकौतूहलैः—

स्तब्धमोऽप्यधिकुत्सयन्मिलवत्प्र प्राप्तपूर्वं यथा ॥

अन्तो किं तव शान्तिरस्ति न भवान् यावद् दुरात्मनिषा

मंहः संहति वीरवैरिपुत्रना श्री वैजयन्तीं हरेत् ॥

—आत्मानुशासनम्—५०

अर्थ—हे क्षुद्र प्राणी ! जब तक तू पाप समूह वीर शत्रु की सेना की फहराती हुई ध्वजा के समान इस दुष्ट विषय तृष्णा को नष्ट नहीं कर देता है तब तक क्या तुझे शान्ति प्राप्त हो सकती है।

इह बिधि चेतनराय, युद्ध करत है मोह सों।

और सुनहु अधिकार, अबहि परस्पर भिड़त हैं ॥

रणसिने बज्जहि, कोउ न भज्जहि, करहि महा बोज जुद्ध।

इत जीब हंकारहि, निजपारवारहि, करहु अरिन को रद्ध ॥

उत मोह जलावे, तब बल धावे, चेतन पकरो आज।

इह बिधि बोज बल में, कल नहि पल, करहि अनेक इलाज ॥

‘भेज्या’ भगवतीदास, ब्रह्मविलास, चेतन कर्म चरित्र—१६४-६५ पृष्ठ ७१

वीर सुबिबेक ने धनुष ले ध्यान का, मारिके सुभट सातों गिराये।

कुनक जो जान की सैन सब संग बेंसी, मोह के सुभट मूर्च्छा ससाये ॥

देखि तब युद्ध यह मोह भाग्यो तहाँ, प्राय अवतहि सब सूर जोरे।

बाँध कर मोरये बहुहि सन्मुख भयो, सरन की होंसतें करे निहोरे ॥

—देखिये, वही, पृष्ठ ६७, पद्य १२३वाँ

यशोधनमसंहार्य क्षत्रपुत्रेण रक्ष्यताम्।

निरवन्तो निधीन् भूमौ बहवो निधनं गताः ॥

—भगवाजिनसेनाचार्य, महापुराण, ३५।१३०

अर्थ—क्षत्रिय पुत्र का कर्तव्य है कि वह जिसका कोई अपहरण न कर सके ऐसे यश रूपी धन की रक्षा करे। पृथ्वी को खोद कर उसमें धन गाड़ कर रखने वाले तो बहुत हुए, जो मृत्यु को प्राप्त हो गये।

कलेवरमिदं त्याज्यं क्षत्रनीयं यक्षोधनम् ।

अयधीविजये लभ्या नात्पोदको रणोत्सवः ।

—महापुराण, ३५।१४४

अर्थ—यशः प्राप्ति के लिये नखर शरीर का परित्याग करना उचित है। मनुष्य को शरीर-रक्षा और कीर्ति-रक्षा की तुलना में कीर्ति-रक्षा करनी चाहिये। विजय प्राप्त कर विजयश्री का वरण करना चाहिये। रणोत्सव अल्प परिणाम देने वाला नहीं है।

स्वबोद्ध्यां धारयन् शस्त्रं क्षत्रियात्सुखं विभुः ।

क्षत्राणो नियुक्ता हि क्षत्रियाः शस्त्रपाणवः ।

—आदिपुराण, १६।२४३.

जैन मान्यता के अनुसार भोगभूमि समाप्त होने पर जब ऋषभदेव ने अग्नि, मयी आदि जिन षट्कर्मों का प्रचलन किया था, उनमें सबसे प्रथम अग्नि अर्थात् शस्त्र विद्या की शिक्षा दी थी। उन्होंने स्वयं दोनों हाथों में शस्त्र धारण कर जिन लोगों को शस्त्र विद्या सिखाई, उन्हें क्षत्रिय नाम भी प्रदान किया। क्षत्रिय सज्ञा का अन्तर्निहित भाव यही था कि जो हाथों में शस्त्र लेकर दुष्टों और सबल शत्रुओं से निर्बलों की रक्षा करते हैं, वे क्षत्रिय हैं। शस्त्र विद्या की शिक्षा ही उन्होंने नहीं दी, अपितु सर्वप्रथम उन्होंने क्षत्रिय वर्ण की स्थापना भी की।

चवन्तीव्रयमस्थान राजानं नीतिवेदिनः ।

कृतीन्द्रस्थान एवायं वण्डधाभावात् प्रजागुणात् ॥

गुणभद्राचार्य, उत्तरपुराण, ५५।१०

अर्थ—नीतिविशारदों ने राजा को इन्द्र और यम स्थानीय कहा है। इन्द्र रूप में वह प्रजा को अनुग्रह दान करता है तथा यम रूप में प्रजा में स्थित अशिष्ट दुष्टों को दण्डित करता है। परन्तु राजा महापद्म प्रजाओं के लिए

केवल इन्द्र ही था क्योंकि प्रजा गुणवती थी और उसमें दण्डवीम दोषों का अभाव था ।

सगम विसाहिउ अहि सहहु विष तहि वेसहि बान्हु ।

रण दुग्गिभक्खें भग्गहं विणु सुज्जे न बलान्हु ॥

हेमवन्नाचार्य, अष्टांगश्री

एक नायिका कहती है कि हे प्रिय ! हम उस देश में चलें, जहाँ हमें खंग का व्यवसाय भर्थात् युद्ध प्राप्त हो सके । वीर योद्धा हैं, उनको अपनी जीविका के लिए, अपने को रण-कौशल में दक्ष बनाये रखने के लिए युद्ध चाहिए । जिस देश में युद्ध प्राप्त नहीं है, वहाँ वे दुर्बल हो जायेंगे ।

कंत जु सीहवां जवभिग्रइ तं मुहु लण्डिउ माणु ।

सीहु निरवलय गय हणय पिउ पय-रक्ख-समाणु ॥

बेलिये, वही

एक नायिका कहती है कि जब मेरे पति की उपमा सिंह से दी जाती है, तब मुझे सकोच होता है । मेरे स्वाभिमान को कुछ धक्का-सा लगता है, क्योंकि सिंह सदा ऐसे हाथियों को मारता है, जिसकी रक्षा करने वाला कोई नहीं रहता, किन्तु मेरे पति तो ऐसे हाथियों को मारते हैं, जिनकी रक्षा के लिए उनके पीछे बहुत से पद-रक्षक रहा करते हैं । कहने का तात्पर्य यह कि मेरे पति रण-स्थल में प्रतिपक्षियों से रक्षित हाथी पर बार करते हैं ।

“यः शस्त्र-वृत्ति-समरे रिपुं स्थात्

यः कंटको वै निजजण्डलस्य ।

अस्त्राणि तत्रैव धीराः क्षिपन्ति

न-दीन् कानीन् शुभाशुभेषु ॥”

—यशस्तिलकचम्पू

अर्थ—जो शस्त्र लेकर युद्ध के लिए तत्पर है, जो देश का कण्टक बन कर देश की शक्ति को क्षुण्णीत कर रहा है, दूरबीर उन पर ही अपना शस्त्र चलाते हैं । कुलीन क्षत्रिय लोग असमर्थ दोनों पर हथियार नहीं चलाते ।

जीवन्तु मे क्षत्रप्रणाः सर्वे

येषां प्रयत्नेन निराकुलोऽहम् ।

यदा यदा मां भजते प्रमाद—

स्तदा मां प्रतिबोधयन्ति ॥

—नीतिस्तक

अर्थ—मेरे शत्रु सदा जीवित रहे । मैं उनके विरोधी प्रयत्नों से (सावधान होकर चलने के परिणाम स्वरूप) निराकुल हूँ । जब-जब मुझे प्रमाद होता है, तब-तब वे मुझे प्रतिबोध (चेतावनी) देते रहते हैं ।

जीवितास्तु पराधीना-उज्जीवानां मरणं वरम् ।

मृगेन्द्रस्य मृगेन्द्रत्वं, जित्नीं केन कानने ॥

क्षत्रचूडामणि—४०

अर्थ—पराधीन रहने की अपेक्षा तो प्राणियों का मर जाना ही अच्छा है । जैसे जंगल में सिंह अपने बल और विक्रम के द्वारा ही सब चौपायों का राजा बन बैठता है, किसी के बनाने से नहीं, उसी प्रकार मुझे भी पुरुषार्थ कर राजा को मार कर राज्य का एकाधिकारी बन कर ही विश्राम लेना चाहिए । क्योंकि जब तक राजा जीवित है तब तक मेरी पूरी दाँल नहीं गल पाती ।

एव राजद्रुहां हन्त, सर्वद्रोहिस्त्व-सम्भवे ।

राजध्रुगेव किं न स्यात्, पञ्चपातकभाजनम् ॥

क्षत्रचूडामणि—४१

अर्थ—जो मनुष्य राजा से भी द्रोह करते नहीं डरता, वह अन्य मनुष्यों से साथ द्रोह करते तो डरेगा क्यों ? इसलिए वह पाँचों पापों का करने वाला भी होता है, इसमें कोई शका नहीं रहती ।

किञ्चात्र देवतं हन्ति, देवतद्रोहिणं जनम् ।

राजा राजद्रुहां वंशं, वंशानन्यच्च तत्क्षणं ॥

क्षत्रचूडामणि—४२

अर्थ—इस लोक में जो मनुष्य जिस देवता का अपमान करता है, वह देवता केवल उसी मनुष्य को दुःख दे सकता है, किन्तु जो मनुष्य राजा का तिरस्कार करता है, वह राजा उस मनुष्य को, उसके वंशजों को और धन-दौलत आदि को उसी समय नष्ट-भ्रष्ट कर देता है ।

युद्धस्थ वार्ता रम्या

युद्ध की वार्ता सुनने में रोचक लगती है। परन्तु युद्ध वास्तव में रोचक नहीं होता। प्राणों का बलिदान देकर युद्ध की पत्तियाँ लिखी जाती हैं। कवियों ने लिखा है—'निविशते यदि शुकशिखा पदे सृजति सा कियतीमिव न व्यथाम्'—यदि कांटे की नोक भी पैर में चुभ जाती है तो कितनी पीड़ा होती है? और युद्ध में तो कांटों से सहस्र गुण मारक अस्त्रों का आघात निष्ठरता से किया जाता है। युद्ध घोर सहार क्रीडा है।

मनुष्य नाखूनों को तो काटता रहता है पर लोहे के नाखून बनाता है। तन के नाखून काटने से क्या होता है, मन के नख तो बड़े हुए हैं। जब जब मनुष्य शस्त्रास्त्र बनाता है, तब तब उसके मन में युद्ध करवटें लेता रहता है। सूई का उत्पादन कपड़े सीने के लिए होता है और एक भी गोली का निर्माण किसी पर शत्रु बुद्धि रखकर किया जाता है। जब तक सूई बनेगी, कपड़े सिये जाते रहेंगे, जब तक कपड़ों की सिलाई चालू रहेगी, सूइयों का उत्पादन बना रहेगा। क्योंकि आवश्यकता आविष्कार की जननी है। जिस दिन आवश्यकता नहीं रहेगी, वैसे आविष्कार नहीं होंगे।

यह कितने खेद की बात है कि मनुष्य अन्न बोने के स्थान पर अफीम की खेती करता है, निर्माण के स्थान पर विनाश के आयुधों में पैसा बर्बाद करता है। आखिर टैंक, वायुयान, बम, राकेटों का निर्माण मानव जाति के निर्माण के लिए तो नहीं किया जाता। इनकी रचना के पीछे विनाश की पुकार छिपी है। आज की मंहगाई क्या इसलिए नहीं है कि अरबों रुपयों का ध्वज लोहा, बारूद के लिए किया जा रहा है और इतना अधिक सामरिक वस्तुओं का निर्माण मनुष्य की मनुष्य के प्रति हिंसक वृत्ति को ही चरितार्थ करता है। हिंसा के ये भयानक खेल जिन्हें रुचते हैं वे कभी मैदान में आकर शहीद नहीं होते। वे तो दूसरों के कन्धों पर बन्दूक रखकर घोड़ा दबाते हैं। ऐसे स्वार्थी मानव जाति के शत्रु हैं और बिना हेतु प्रजाओं का बध करते हैं।

अग्नि से अग्नि शान्त नहीं होती और युद्ध से युद्ध का प्रतिकार स्थायी नहीं होता। स्थायी शान्ति के लिए अहिंसा आवश्यक है। जब मनुष्य के मन में मैत्रीभाव होगा तभी शान्ति होगी, नहीं तो दबाकर रखी हुई आग फिर हवा लगते ही सुलगने लगेगी।

युद्ध का जन्म वैरभाव से होता है और वैरभाव का जन्म अहंकार से। जब कोई किसी को तुच्छ समझने लगता है तब वह उसकी अवमानना करता है और इसी से अनेक संघर्षों का उदय होता है। मानव मानव के प्रति सहिष्णु रहे और अपनी हिंसावृत्ति को बलपूर्वक दूसरो पर न लादे तो शान्ति से जीवन बिता सकता है।

जो लोग आसुरी प्रवृत्ति के होते हैं वे मद्य-मांस खाकर युद्ध की बातें करते हैं। भले और शान्तिप्रिय लोगो का निरुपद्रव जीवन वे सहन नहीं कर पाते और बिना कारण लड़ने को तैयार हो जाते हैं। उन्हें शान्त करना आवश्यक हो जाता है। क्योंकि उनको प्रोत्साहन मिलने से वे धर्म, आचार, शील आदि सद्गुणो पर प्रहार करते हैं। नीति में ऐसे लोगो को दण्डनीय बताया गया है। दुष्टनिग्रह तथा शिष्टपरिपालन शासक का धर्मकर्तव्य है।

युद्ध यदि धर्म रक्षार्थ, परिवार तथा शील-संस्कृति की रक्षा के लिए किया जाए तो वह सर्वथा हिंसा नहीं होती, उसमें भी शील, संस्कृति, धर्म की रक्षारूप अहिंसा विद्यमान रहती है। इस रूप में युद्ध रक्षात्मक है और आवश्यक होने पर पालनीय भी है। यह पवित्र सिद्धान्तो तथा मर्यादाओ की रक्षा के लिए उचित है।

: ५ :

श्रीऋषभदेवस्य शतपुत्रनामानि

१. भरत. २. बाहुबली ३. शंखः ४. विश्वकर्मा ५. विमलः ६. सुमक्षणः
 ७. अमलः ८. जिह्वांगः ९. ख्यातिकीर्तिः १०. वरदत्त. ११. सागरः १. यशोधरः
 १३. अमरः १४. रथवरः १५. कामदेवः १६. ध्रुवः १७. वच्छः १८. नन्दः
 १९. सुरः २०. सुनन्द २१. कुह. २२. अगः २३. वगः २४. कोशलः २५. वीर.
 २६. कर्लिगः २७. मागध २८. विदेहः २९. सगमः ३०. दशार्णः ३१. गम्भीरः
 ३२. वसुधर्मा ३३. सुवर्मा ३४. राष्ट्रः ३५. सुराष्ट्रः ३६. बुद्धिकरः
 ३७. विविधकर. ३८. सुयशाः ३९. यशस्कीर्ति ४०. यशस्करः ४१. कीर्तिकरः
 ४२. सुरणः ४३. ब्रह्मसेनः ४४. विक्रान्तः ४५. नरोत्तमः ४६. पुरुषोत्तमः
 ४७. चन्द्रसेनः ४८. महासेन. ४९. नभःसेनः ५०. भानुः ५१. सुक्रान्तः
 ५२. पुष्पयुतः ५३. श्रीधरः ५४. दुर्धर्षः ५५. सुसुमारः ५६. दुर्जयः ५७. अजेय-
 मानः ५८. सुधर्मा ५९. धर्मसेनः ६०. आनन्दनः ६१. आनन्दः ६२. नन्दः
 ६३. अपराजितः ६४. विश्वसेनः ६५. हरिषेण. ६६. जयः ६७. विजय.
 ६८. विजयन्तः ६९. प्रभाकरः ७०. अरिदमनः ७१. मानः ७२. महाबाहुः
 ७३. दीर्घबाहुः ७४. मेघः ७५. सुघोष ७६. विश्वः ७७. वराह. ७८. सुसेनः
 ७९. सेनापतिः ८०. कपिलः ८१. शैलविचारी ८२. अरिञ्जय. ८३. कुञ्जरबलः
 ८४. जयदेवः ८५. नागदत्त ८६. काश्यपः ८७. बलः ८८. धीरः ८९. शुभमतिः
 ९०. सुमतिः ९१. पद्मनाभः ९२. सिंहः ९३. सुजातिः ९४. संजय. ९५. सुनाभः
 ९६. नरदेवः ९७. चित्तहरः ९८. सुरवरः ९९. दूतारथः १००. प्रभञ्जनः

—इति ।

अभिधानराजेन्द्रकोशः, 'उत्तम' प्रकरण, पृष्ठ ११२९.

श्रीमद्भागवते श्रीऋषभदेवस्योन्विजतिपुत्राणां नामोत्प्लेखः

‘मात्मजानामात्मसमानानां शतं जनयामास । येषां खलु महायोगी भरतो ज्येष्ठः.....तमनु कुशावर्तं इलावर्तं ब्रह्मावर्तं मलयःकेतुर्भद्रसेनः इन्द्रस्पृग्विदर्भः कीकट इति नव नवति प्रधानाः । कविर्हरिरन्तरिक्षः प्रबुद्धः पिप्पलायनः । आविर्होत्रोऽथ दुर्भिलश्चमसः करभाजनः ॥’ इति भागवतधर्मदर्शनानवमहाभागवताः । यवीयांस एकाशीतिर्जायन्तेयाः (जयन्त्यामुत्पन्नाः) इति ।

श्रीभागवत् ५।४।६-१३

१. भरतः २. कुशावर्तः ३. इलावर्तः ४. ब्रह्मावर्तः ५. मलयः ६. केतुः ७. भद्रसेनः ८. इन्द्रस्पृक् ९. विदर्भः १०. कीकटः ११. कविः १२. हरिः १३. अन्तरिक्षः १४. प्रबुद्धः १५. पिप्पलायनः १६. आविर्होत्रः १७. दुर्भिलः १८. चमसः १९. करभाजनः ।

भगवज्जिनसेनाचार्यस्य महापुराणे वणितानि श्रीऋषभदेव सुताना कानिचिन्नामानि—

१. भरतः २. वृषभसेन ३. अनन्तविजयः ४. अनन्तवीर्यः ५. अच्युतः ६. वीरः ७. वरवीरः ।

—१६।१।४.

